जैन धर्म का परिचय

प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय
भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा

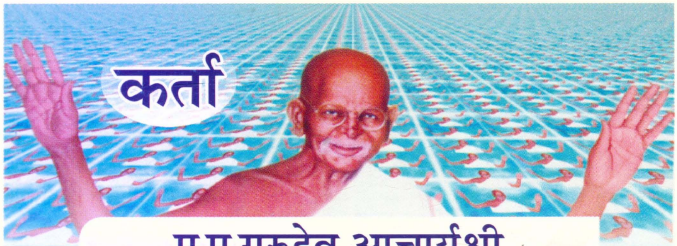

प.पू.गुरुदेव आचार्यश्री
भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा

ई.स.-1911 में 'कान्ति' के नाम से जन्म धारण कर, इस भारत की धरा पर आपने ज्ञान और वैराग्य की नयी क्रान्ति लाइ। आपने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञासे लंडन की C.A. समकक्ष G.D.A. की उच्चतम डीग्री को हस्तगत की। केवल 22 सालकी यौवन वय में पूज्य गुरुदेव श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के चरणो में लघुबंधु के साथ अपना जीवन समर्पण करके चारित्र अंगीकार किया। ज्ञान के साथ साथ 'वर्धमान तप' की 108 ओलीयाँ करके आप 'वर्धमान तप - आराधक' बने। 250 से भी अधिक शिष्यो के योग-क्षेमकारक आप श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ में वरिष्ठ आचार्य थे। आचार्यश्री जयघोषसूरीश्वरजी को अपना उत्तरदायित्व प्रदान करके वर्तमान में विद्यमान सर्वाधिक 500 साधु के शिष्य परिवार द्वारा आपने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया हें।

॥ नमोत्थुणं समणओ भगवओ महावीरस्स ॥
॥ परमोपकारी श्री प्रेमसूरीश्वर सद्गुरुभ्यो नमः ॥

जैन धर्म का परिचय

लेखक
न्यायविशारद वर्धमान तपोनिधि
गच्छाधिपति परम पूज्य आचार्य
श्री विजयभुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३९, कलिकुंड सोसायटी,
मफलीपुर चार रस्ता,
धोळका-३८७८१०
www.jainonline.org

वीर संवत्	विक्रम संवत्
२५३९	२०७०

निमित्त

प. पू. सिद्धांतदिवाकर सुविशाल गच्छाधिपति
आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराजा का
७९वाँ जन्मदिन तिथि:-अषाढ वदि-२, २०७०, ता-१४-७-२०१४

किंमत : Rs.- 100/

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३९, कलिकुंड सोसायटी, मफलीपुर चार रस्ता,
धोळका-३८७८१०
www.jainonline.org

भानूदय धाम
पियुषभाई सी. शाह
C/2, दिकशांति एपार्टमेन्ट, रजवाडुं होटल के पास,
जीवराजपार्क, अहमदाबाद-५१

उर्मिलभाई शाह
D/2/3, नूतनजीवन को. हा. सो., कृपानगर,
ईर्ला, विले पार्ला (वेस्ट), मुंबइ
M.-09820527710

Printed By
Navrang Printers, Ahmedabad. M.-09428500401

लाभार्थी

नरेन्द्र (नंदुभाई) झवेरचंदजी राठोड परिवार

कोल्हापुर -

M.- 09822020671

प्रथमबार

Online Exam

इस पुस्तक की

Online Exam

की जानकारी के लिए

Visit at :

www.jainonline.org

प्रकाशकीय निवेदन

स्व-पर कल्याण और जीवन की सफलता का आधार सम्यक् जीवन में वृद्धि तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति है । महान् पुण्योदय से जैन कुल में जन्म प्राप्त करने पर भी पढ़ने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा न मिलने के कारण आज के युग में प्रचलित भौतिकवादी ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा मानव बुद्धि को तृष्णा, असन्तोष, विषय-विलास तथा तामसिक भावों से रंजित रखती है । फिर इस प्रकार विकृत हुए मानव की प्रवृत्ति पापयुक्त हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । यह बात सुनने और जानने में आई है कि इस निराशाजनक दृश्य को देखकर धर्मनिष्ठ माता-पिता को क्षोभ होता है और उन के हृदय में करूणा उत्पन्न होती है । ऐसी दशा में नई पीढ़ी के निमित्त किसी व्यवस्थित योजना के अभाव में निर्मित भावी जैन संघ के स्वरूप की कल्पना भी हृदय को क्षुब्ध कर देती है ।

ऐसे जड़ विज्ञान, भौतिक वातावरण तथा विलासी जीवन की विषाक्तता का निवारण करने के लिए तत्त्वज्ञान और सन्मार्ग सेवन की अत्यधिक आवश्यकता है । किसी भी मोक्षदृष्टि भव्यात्मा के लिए यह अत्यावश्यक है कि तत्त्व परिणति का ऐसा रूप प्राप्त किया जाए जिसके परिणामस्वरूप तत्त्वज्ञान भी अन्तरात्मा में परिणत हो जाए ।

तत्त्वपरिणति के लिए तत्त्व का बोध, चिन्तन और इसे आत्मा

में अनुप्राणित करने की आवश्यकता है । इस उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त तत्त्वज्ञान को समझने के लिए गुरुगम (गुरु का सम्पर्क, गुरु की शरण, तथा पाठ्य पुस्तकादि रूप साधन-सामग्री) आवश्यक अंग हैं ।

वीतराग सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्व ही यथार्थ हो सकते हैं । महापुरुषों ने इन तत्त्वों का विस्तार विशाल 'आगम' शास्त्रों में सग्रंहित किया है । बाल जीवों के लाभार्थ अनेक ग्रन्थों के प्रकरण भी इसमें प्रकाशित किए गए हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में इन तत्त्वों का प्रतिपादन करने के लिए सरल हिन्दी भाषा में भिन्न भिन्न विभाग और पृथक् करणादि की योजना करके दोहनरूप - ३८ प्रकरण ऐसी शैली से प्रस्तुत किए गए हैं कि जिज्ञासु को पूर्व महर्षियों द्वारा कथित तत्त्वों का ज्ञान सरलता से हो सके, चिन्तन मनन द्वारा उनमें तत्त्व परिणति प्रगट हो सके । अभ्यासार्थियों के लिए जैन शासन के अति गंभीर रहस्यपूर्ण तत्त्वों की सरल व संक्षिप्त गाइड के समान उपयोगी पुस्तक की आवश्यकता चिरकाल से थी । वि.सं. २०१८ में इस विषय में यत्किंचित् सफलता प्राप्त हुई ।

परम पूज्य परमोपकारी, सिद्धांत महोदधि, कर्म साहित्य निष्णांत आचार्य भगवान् श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज श्री के विद्वान् शिष्यरत्न पूज्य पंन्यास प्रवर श्री विजय भानुविजयजी गणिवर (इस समय गच्छाधिपति पूज्य आचार्य श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज) ने पूज्यपाद गुरुदेव श्री की अनुपम कृपा के फलस्वरूप

अपूर्व शास्त्रज्ञान, विभिन्न दर्शनों तथा न्यायशास्त्र के गहन अभ्यास, विशाल अध्ययन एवं तलस्पर्शी अनुभव ज्ञान की सिद्धि की है । इस में से आप श्रीजी निरन्तर मनोवैज्ञानिक, रसयुक्त, प्रेरक और बोधक शैली से व्याख्यान, वाचन एवं साहित्य सर्जन द्वारा श्रुतज्ञान का अमृतपान करा रहे हैं, क्योंकि आपके हृदय में शासन रक्षा की अपूर्व भावना और महान् उत्साह है । आप चाहते हैं कि श्रीसंघ को वीतराग- शासन के अद्वितीय श्रुतज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त होता रहे और जैनत्व के संस्कार दृढ, दृढतम बनते रहे । वर्धमान आयंबिल तप की कठोर तपस्या के साथ अप्रमत्त भावसे १७-१८ घण्टे का परिश्रम करते हुए तथा अनेक उत्तरदायित्वों की उपस्थिति में पालीताणा, अंधेरी, नासिक, अहमदनगर, वढवाण, पालनपुर, अहमदावाद, शिवगंज आदि स्थानों में पूज्य आचार्य श्री जी ने तत्त्वज्ञान की श्रावक वर्ग को अनेक वाचनाएँ प्रदान की है । उनसे बालकों, युवकों, प्रौढों और विद्वानों ने पर्याप्त लाभ उठाया तथा उन वाचनाओं की नोट भी लिखी गयी । जैन संघ में ज्ञान जागृति के लिये यह प्रबल आवश्यकता और माँग थी कि भिन्न भिन्न वाचनाओं का पाठ्यपुस्तक के रूप में संक्षेप में संकलन किया जाए जिससे पुस्तक अभ्यासोपयोगी बन सके ।

इस माँग की वि. सं० २०१८ में पूर्ति हुई । आचार्य श्रीजी ने अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के बावजूद पुस्तक की विषय-वस्तु तैयार की । सर्वप्रथम उसका प्रकाशन 'जैन धर्म का सरल परिचय' नाम

से हिन्दी में हुआ । शीघ्र ही दिव्य दर्शन साहित्य समिति-अहमदाबाद ने 'जैन धर्मनो सरल परिचय - भाग १' नाम से उस का गुजराती संस्करण प्रकाशित किया ।

पूज्य श्री के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में आयोजित 'जैन धार्मिक शिक्षण शिबिर' में इस पुस्तक के आधार पर शिबिरार्थियों को जैन धर्म के तत्त्वज्ञान का अभ्यास कराया गया । सरल और उपयोगी होने से अब यह पुस्तक इस शिबिर के पाठ्यपुस्तक का रूप धारण कर चुकी हैं । इसकी उपयोगिता बढ़ने पर दिव्य दर्शन साहित्य समिति ने इस की दूसरी तीसरी व चतुर्थ आवृत्ति भी प्रकाशित की ।

दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से आज "जैन धर्म परिचय" के पंचम गुजराती संस्करण का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करते हुए हमें आनंद का अनुभव हो रहा है । पूर्व प्रकाशित आवृत्तियों की अपेक्षा इस आवृत्ति में आवश्यक और अधिक संशोधन किया गया है । यह संशोधन भी पूज्य आचार्य श्रीजी ने स्वयं किया है । विद्यालयों और महा- विद्यालयों के छात्रों को समझने में कठिनाई न हो, इस उद्देश्य से प्रत्येक प्रकरण में संशोधन-परिमार्जन किया गया है । उग्र विहार-अस्वस्थता और चालू तपश्चर्या के साथ भी आपने बड़ी सावधानी से इस पुस्तक का पूरा मेटर आदि से अन्त तक देखा है, व जाँचा है और उसमें सुधार किया है ।

दो - तीन वर्षो का पाठ्यक्रम नियत कर इस पुस्तक को पाठशालाओं में पढ़ाया जा सकता है । वयोवृद्ध जैन भी इस पुस्तक के गहन अभ्यास द्वारा अपने धर्म के विषय में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । आज अनेक जैनेतर बन्धु भी जैन धर्म समझने के लिये उत्सुक हैं या तत्त्व के जिज्ञासु हैं । यह पुस्तक ऐसी है कि इसके द्वारा उन्हें जैन धर्म के विविध अंग सरल भाषा में संक्षिप्त अध्ययन से समझ में आ सकते हैं । यह उन्हें दी जा सकती है । गुरुगम के माध्यम से अभ्यास करने पर अच्छे से अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस पुस्तक को पढ़ने से लाभः- पढ़ने वाले को सर्व प्रथम लाभ यह है कि उसको इस बात का भान होगा कि जैनधर्म में सिखाए जाने वाले तत्त्व कितनी अधिक मात्रा में गम्भीर अर्थ वाले, अद्वितीय और असाधारण हैं तथा कैसी मार्गसूचक विशेषताओं से सम्पन्न है । इससे मानवजीवन की इतिकर्तव्यता का भी ज्ञान होता है । दूसरा लाभ यह है कि आर्य संस्कृति जैन धर्म और इसके शासन संस्थापक तीर्थंकर भगवान के प्रति असीम सन्मान उत्पन्न होगा वह उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने में उपयोगी सिद्ध होगा, साथ ही यह भी समझ में आ जायेगा कि भौतिक विज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान कितना बढ़िया, जीवन में सच्ची शांति, स्फूर्ति तथा समृद्धि प्रदान करने वाला और भव्य तत्त्वदृष्टि दायी है ।

गुरु के माध्यम से इस दोहन ग्रन्थ का अध्ययन अतीव लाभदायी

सिद्ध होगा । गुरु की आवश्यकता इसलिए है कि इसमें अनेक स्थलों पर संक्षिप्त वाक्यों में प्रश्नोत्तर समाविष्ट हैं, विस्तृत विवेचना का संक्षेप है और अनेक पदार्थो का संकेतमात्र है । संक्षेप में तत्त्व चिन्तन और सन्मार्ग साधना के लिए इसमें से अनेक पदार्थ मिल सकेंगे ।

अभ्यास पद्धतिः- प्रकरण का अंश पढ़कर, संक्षिप्त संकेतों में उसकी धारणा करके बिना पुस्तक देखे मुख से, बोलकर उन पदार्थो का पुनः अवधारण करना । तत्पश्चात् अगले अन्य नवीन अंशो की वाचना करके पदार्थो के संकेतों की शृंखला जोड़ते रहना चाहिए । छात्र वही पदार्थ तैयार कर सकें इसका एक सरल उपाय यह है कि शिक्षक चार या पांच पदार्थो-तत्त्वों को समझाकर बारी-बारी विद्यार्थियों को क्रम-अक्रम से उन पदार्थो को पूछकर रटाएँ और संकेत स्थानों का संकलन करके धारणा कराए और बार बार समझाकर, कण्ठस्थ करवाकर तैयार करवाए । अंत में प्रकरण की समाप्ति पर सारे प्रकरण का उपसंहार करें । दूसरे दिन नये अध्ययन से पहले एकाध बार संक्षेप में आवृत्ति (Revision) कराकर आगे बढ़ा दिया जाय । आधुनिक मानस वाले विद्यालयों और महाविद्यालययों के विद्यार्थियों में धार्मिक संस्कार-सिंचन तथा चारित्र निर्माण के निमित्त हमारी आग्रहपूर्ण विनंती के फलस्वरूप समय देकर अनवरत श्रम से विद्वद्वर्य परम पूज्य आचार्यदेवश्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी ने प्रस्तुत 'जैन धर्म का परिचय' पाठ्यपुस्तक लिख कर हम पर महान् अनुग्रह किया है ।

'जैन धर्म का परिचय' नामक यह पाठ्यपुस्तक विश्व कल्याण, जिनशासन तथा इसके तत्त्वज्ञान को समझने के हेतु सब के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, इस उदात्त भावना के साथ 'दिव्यदर्शन ट्रस्ट' इसका प्रकाशन करके आप सबके करकमलों में समर्पित कर रहा है । हमारी यही शुभकामना है कि सभी लोग तत्त्वों के मर्म द्वारा स्व-पर कल्याण का सम्पादन करें ।

निवेदक

कुमारपाल वि. शाह

(दिव्य दर्शन ट्रस्ट-ट्रस्टी)

विषयानुक्रम

जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण २०

जैनधर्म की अति-प्राचीनता में जैनेतर शास्त्र के प्रमाण २२

जैनधर्म के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों के मन्तव्य २४

जैनधर्म के विषय में भारतीय विद्वानों के मन्तव्य २५

(१) जैनधर्म का सरल परिचय - जगत का सर्जन और संचालन २७

(२) मोक्ष कैसे होता है? ३१

कार्यमात्र में ५ कारण जरुरी ३३

धर्म एक वृक्ष हैः इसका बीज सत्प्रशंसादि ३४

(३) जीवन में धर्म की क्या जरुरत है? ३५

जीवन में दान-शील-तप-भक्ति-अति आवश्यक है । ३७

(४) जगत कर्ता कौन? ईश्वर नहीं ! ३९

(५) धर्म परीक्षा ४२

(६) जैनधर्म यह विश्वधर्म है ४५

बर्नाड शॉ की इच्छा ४६

(७) विश्वःषड्द्रव्य-समूहमय-पंचास्तिकायमय ४७

(८) द्रव्य-गुण-पर्याय ५०

छः द्रव्यों के गुण पर्यायों का सरल कोष्टक ५२

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ५३
(९) नवतत्त्व ५४
नव तत्त्व का सरल बोध ५७
जीव सरोवर में नौ तत्त्व ५८
(१०) जीवद्रव्यः आत्मद्रव्य स्वतंत्र है इसके प्रमाण ५९
(११) जीव के भेद ६५
पांचो स्थावर जीवों का कोष्टक ६६
द्वीन्द्रियादि जीवों का कोष्टक ६७
पंचेन्द्रिय जीवों का कोष्टक ६८
जीवों के भेदः उर्ध्व-अधो-मध्यलोक ६९
(१२) जीव की विशेषताएँ ७०
पर्याप्ति अर्थात् शक्ति ७०
प्राण-जीवन शक्ति ७२
स्थिति ७३
अवगाहना ७३
कायस्थिति ७४
योग-उपयोग ७४
लेश्या ७४
(१३) जीव का मौलिक और विकृत स्वरुप ७६

सर्वज्ञता में प्रमाण ७७
जीव का मूल स्वरुप ७८
जीव-सूर्य पर ८ कर्म बादल ८१
(१४)अजीव तत्त्व (दूसरा तत्त्व) ८२
पुद्गल की ८ वर्गणा ८२
परमाणु ८३
८ वर्गणाएँ ८ वर्गणाओं के कार्य ८५
(१५) पुण्य-पाप-आश्रव तत्त्व-(तत्व-३, ४, ५) ८८
मिथ्यात्व के पांच प्रकार हैं ८९
अविरति (दूसरा आश्रव) ८९
कषाय(तीसरा आश्रव) ९१
अनंतानुबंधी कषाय ९२
योग [चोथा आश्रव] ९३
प्रमाद [पांचवाँ आश्रव] ९५
(१६) संवर (छवाँ तत्व) ९७
५ समिति-३ गुप्ति ९८
२२ परिसह १००
१० यतिधर्म १०१
१२ भावना १०१

चारित्र [५ प्रकार] १०४
पंचाचार १०५
दर्शनाचार १०६
चारित्राचार-तपाचार-वीर्याचार १०७
(१७) बन्धतत्त्व (सातवाँ तत्व) १०७
जीव-सूर्य कर्म बादल से अनेक विकृति ११०
८ करण ११२
आठ कर्मो की १२० उत्तर प्रकृतियाँ ११५
दर्शन मोहनीय कर्म ११७
चारित्र मोहनीय कर्म ११८
अंतराय कर्म के पांच प्रकार ११८
वेदनीय कर्म ११९
आयुष्य कर्म ११९
गोत्रकर्म ११९
नाम कर्म ११९
१४ पिंड प्रकृति (कुल ३१ प्रकृति) १२०
८ प्रत्येक प्रकृति १२५
त्रसदशक-स्थावरदशक (कुल २० प्रकृति) १२६
४२ पुण्य प्रकृति १२८

(१२ पाप प्रकृति १२८
घाती-अघाती कर्म १३०
परावर्तमान-अपरावर्तमान कर्म १३१
पुण्यपाप की चतुर्भंगी १३२
ध्रुवबन्धी १३५
(१८) निर्जरा तत्त्व (आठवाँ तत्व) १३६
बाह्य-आभ्यंतर तप १३७
बाह्य तप के ६ प्रकार १३७
अभ्यंतर तप के ६ प्रकार १३८
(१) प्रायश्चित्त तप १३९
(२) विनय तप १३९
अनाशातना विनय के ४५ प्रकार १४०
लोकोपचार विनय के ७ प्रकार १४१
(३) वैयावच्च तप १४१
(४) स्वाध्याय-तप १४१
(५) ध्यान-तप १४२
अशुभ ध्यान के २ प्रकार १४३
शुभ ध्यान के २ प्रकार १४३
शुक्ल ध्यान के चार प्रकार १४४

६. कायोत्सर्ग तप १४५
(१९) मोक्ष (नौवां तत्त्व) १४६
क्या संसार का अन्त है? १४७
मोक्ष में सुख क्या? १४९
मोक्ष है इसमें प्रमाण क्या? १५१
सत्पदादि प्ररुपणा १५२
पांच प्रकार के भाव १५४
६२ मार्गणा द्वार १५५
सिद्धों के १५ भेद १५९
नव तत्त्व का प्रभाव १६०
श्रावक धर्म
(२०) श्रावक की दिनचर्या १६१
प्राभातिक कर्तव्यः नवकार-स्मरण १६१
धर्म-जागरिका १६२
प्रतिक्रमण १६३
पच्चक्खाण १६३
नवकारशी आदि के फल १६३
गुरुवंदन १६४
भाव पूजा-चैत्यवंदन १६६

संवेगवर्धक १० चिन्तन १६८
पर्वकृत्य १७०
(२१) नमस्कार मन्त्र और पंच परमेष्ठी १७१
अरिहंत १७२
सिद्ध १७५
आचार्य १७५
उपाध्याय १७६
साधु १७६
(२२) जिनभक्तिः मंदिर के १० त्रिक १७८
मंदिर की विधि-१० त्रिक १८०
मंदिर के १० त्रिक का विवरण १८१
अवस्थाचिंतन त्रिक १८३
पूजा में सावधानी १८७
(२३) अष्ट प्रकारी पूजा में भावना १८९
नवाङ्गी तिलक में भावना १८९
(२४) पर्व और आराधना १९४
पर्व आराधना का कोष्टक १९६
महावीर स्वामी भगवान के पांच कल्याणक दिन २००
(२४-ए) चातुर्मासिक वार्षिक-जीवन कर्तव्य २०२

वार्षिक ११ कर्तव्य २०४
जीवन कर्तव्य (१८) २०६
श्रावक की प्रतिमा (८ से १८) २०७
(२५) श्रावक के व्रत-नियम २०८
पच्चक्खाण २०९
आहार का पच्चक्खाण ४ प्रकार से २१०
रात्रि के पच्चक्खाण २१३
१४ नियम २१३
चातुर्मास के नियम २१९
आजीवन नियम २१९
(२६) अभक्ष्य और कर्मादान २२०
कर्मादान के १५ प्रकार २२२
सातवें व्रत में वस्तु का कोष्ठक २२४
अनर्थदंड विरमण व्रत २२६
आत्मोत्थान क्रम
(२७) मोक्षमार्ग-मार्गानुसारी के ३५ गुण २२७
मार्गानुसारी-जीवन २२८
३५ गुण ४ विभाग में कोष्ठक २२९
११ कर्तव्य २३०

८ दोष का त्याग २३२
८ गुणों का आदर २३३
८ साधना २३५
बुद्धि के आठ गुण २३६
अपुनर्बंधक अवस्था २३७
(२८) धर्म के चार प्रकारः दान धर्म २३९
शील धर्म का महत्त्व २४०
तप धर्म का महत्त्व २४१
भावना धर्म का महत्त्व २४५
अनित्यादि १२ भावना (अनुप्रेक्षा) २४५
मैत्री आदि ४ भावना २४७
४ ज्ञानादि भावना २४७
सम्यग्दर्शनादि धर्म-योगात्मकधर्म-साश्रव-निराश्रव धर्म २४७
(२९) सम्यग्दर्शन २४८
सम्यक्त्व के ६७ व्यवहार २५०
'सद्द शुलि'... का विवरण २५१
सम्यक्त्व की करनी २५८
(३०) देश विरतिः बारह व्रत २५९
पांच अणुव्रत २५९

व्रत-६: दिशा परिमाण २६२
व्रत-७: भोगोपभोग परिमाण २६२
व्रत-८: अनर्थदंड विरमणव्रत २६४
व्रत-९: सामायिक २६६
व्रत-१०: देशावगासिक २६७
व्रत-११: पौषधव्रत २६८
व्रत-१२: अतिथिसंविभाग २६९
(३१) भाव-श्रावक २६९
भाव श्रावक के भावगत १७ लक्षण (गुण) २७०
(३२) साधुधर्म (साध्वाचार) २७६
साधु की दिनचर्या २७८
१० प्रकारे साधु सामाचारी २८०
(३३) ध्यान- धर्म ध्यान के १० प्रकार २८१
विपाकविचय-धर्म-ध्यान २८४
विराग-विचय-धर्म-ध्यान २८५
भवविचय-धर्मध्यान २८६
आज्ञा विचय धर्म-ध्यान २८७
हेतु विचय धर्मध्यान २८८
ध्यान के विषय में कुछ आदर्श २८९

लोगस्स सूत्र द्वारा ध्यान २९३
पिंडस्थ-पदस्थ-रुपातीत ध्यान २९४
ध्यान के अन्य भी कई प्रकार २९५
अक्षर अंक ध्यान २९६
(३४) महान योगः प्रतिक्रमण २९७
षड् आवश्यक २९८
कायोत्सर्ग-आवश्यक ३००
प्रत्याख्यान-आवश्यक ३००
प्रतिक्रमण में माहण-सिंह का दृष्टांत ३०१
रानी और मंत्री का दृष्टांत ३०२
जैन सिद्धान्त
(३५) १० गुणस्थानक यानी आत्मा का उत्क्रान्ति क्रम ३०३
(३६) प्रमाण और जैन शास्त्र ३०७
पांच प्रमाणज्ञान ३०७
१. मतिज्ञान, मानस मतिज्ञान के रूपक चिन्ता आदि ३०९
२. श्रुतज्ञान, ४५ आगमः द्वादशांगीः १४ पूर्व आदि ३१२
पंचांगी आगम ३१४
अन्य जैन शास्त्र ३१५
३. अवधिज्ञान ३१७
४. मनःपर्यव ज्ञान ३१७
५. केवल ज्ञान ३१८

सर्वज्ञता क्यों ? ३१९
पांच प्रमाण ३१९
अनुमान प्रमाण ३२०
व्याप्ति ३२०
नय और निक्षेप ३२२
नय ३२४
नैगमनय ३२४
संग्रहनय ३२६
व्यवहार नय ३२६
ऋजुसूत्र नय ३२६
शब्द (सांप्रति) नय ३२७
समभिरुढ नय ३२७
एवंभूत नय ३२८
निक्षेप ३२९
नाम-स्थापना-द्रव्य निक्षेप ३३०
भाव निक्षेप ३३१
अनेकान्तवाद (= स्याद्वाद सापेक्षवाद) सप्तभंगी ३३२
एक ही वस्तु में नित्यानित्य धर्म ३३३
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ३३६
सप्तभंगी ३३७
पर पर्याय अपने कैसे? ३३९
चार अनुयोग ३४२

जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण

यह बात वेद, पुराण, उपनिषद् तथा भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों के मंतव्यों से सत्य प्रमाणित हो चुकी है कि जैनधर्म अन्य समस्त धर्मो की अपेक्षा प्राचीन है । 'जैनधर्म अने तेनी प्राचीनता' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में पं. श्री अम्बालाल लिखते हैं -

"स्पष्ट रुपेण बौद्ध धर्म हजार वर्ष पूर्व ही प्रगट हुआ है । यही नहीं, भगवान बुद्ध ने जैन सिद्धान्तों का अनुभव किया था । जैन सिद्धान्तों में प्रतिपादित मार्ग- पराकाष्ठा से उबकर (उकताकर) ही उन्होंने मध्यममार्ग प्रचलित किया । वही बौद्ध धर्म के रूप में प्रसारित हुआ । यह तथ्य ऐतिहासिक है ।"

वेदों में कतिपय नाम ऐसे स्पष्ट हैं कि वे जैनधर्म के तीर्थंकरो के नामों की सूचना देते हैं । श्रीमद् भागवतकार ने श्री ऋषभदेव का चरित्र अतीव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । उन्हें हिन्दुधर्म के २४ अवतारो में भी स्थान प्रदान किया है । इस से जैनधर्म की प्राचीन परम्परा का स्पष्ट पता चलता है ।

"भगवान महावीर के ११ गणधर और उनके बाद होनेवाले कई धुरंधर जैनाचार्य अधिकतर वैदिक शास्त्रों के विद्वान ब्राह्मण थे । उन्होंने अपनी (वैदिक) ज्ञान की अपूर्णता से असन्तुष्ट होकर जैन धर्म की दीक्षा अंगीकार की थी । संसार के विविधधर्म तो उन-उन मुख्य व्यक्तियों के नाम से विख्यात हुए । गौतम बुद्ध नामक व्यक्ति

से बौद्ध धर्म, ईसामसीह नामक व्यक्ति से ईसाई धर्म, शिव से शैव धर्म, विष्णु से वैष्णव धर्म, हजरत मुहम्मद से इस्लाम धर्म, इसी प्रकार अन्य अनेक धर्म विशिष्ट व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हुए । परंतु इस प्रकार जैन धर्म 'ऋषभ' नाम के व्यक्ति या 'पार्श्व' नाम के व्यक्ति अथवा 'महावीर' नामक व्यक्ति के कारण ऋषभधर्म, पार्श्व धर्म, किंवा महावीर धर्म के रूप में विख्यात नहीं हुआ । वस्तुतः 'जैन' -धर्म गुण- निष्पन्न नाम है । "जो राग-द्वेषादि आभ्यंतर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है वह 'जिन' कहलाता है ।" जिन द्वारा कथित धर्म 'जैन धर्म' कहलाता है, और जैनधर्म की उपासना करनेवाले को जैन कहते हैं ।

जैसे सागर में सब नदियां समा जाती है, वैसे ही जैन धर्म में सभी दर्शनों का समावेश हैं । अन्य विविध दर्शन एक एक नय का आश्रय लेकर प्रवर्तित हुए हैं । जब कि जैन दर्शन सप्तनय द्वारा गुँफित है । जैनदर्शन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मपद्धति, जीवविज्ञान सूक्ष्म तपमीमांसा, नवतत्त्व का सुंदर स्वरुप, स्याद्वाद-अनेकांतवाद की विशिष्टता, अहिंसा-तप की पराकाष्ठा, योग की अद्वितीय साधना तथा व्रतों-महाव्रतों का सूक्ष्मरीति से प्ररूपणा व पालन... आदि की तुलना में आज तक कोई भी दर्शन समर्थ नहीं हो सका है । विश्व के धर्मो में सब प्रकार से यदि कोई धर्म पूर्ण धर्म हैं तो बह जैन धर्म ही है । विश्वशांति का मार्ग प्रदर्शित करने की क्षमता रखनेवाला यदि कोई मार्ग है तो वह जैनधर्म के सिद्धान्तों में ही निर्दिष्ट है ।

जैन धर्म की अतिप्राचीनता में जैनेतर शास्त्र के प्रमाण

जैन धर्म जैनेतरों के प्राचीनतम वेदों और पुराणों से पूर्व भी विद्यमान था, इस बात के निम्न लिखित प्रमाण हैं,

[१] "कैलासे पर्वते रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः ।
चकार स्वावतारं यः, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः" ।।१।।

(शिव पुराण)

अर्थः-"(केवलज्ञान द्वारा) सर्वव्यापी, कल्याण स्वरूप, सर्वज्ञ इस प्रकार के ऋषभदेव-जिनेश्वर मनोहर कैलास (अष्टापद) पर्वत पर अवतरित हुए ।"

[२] "रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रमादेव, मुक्तिमार्गस्य कारणम्" ।।२।।

(प्रभासपुराण)

अर्थः- रैवतगिरि (गिरनार) पर नेमिनाथ, और विमलाचल (शत्रुंजय-सिद्धगिरि) पर युगादि (आदिनाथ) पधारे । ये गिरिवर ऋषियों के आश्रम होने के कारण मुक्तिमार्ग के हेतु हैं ।"

[३] "अष्टषष्टिषु तीर्थेषु, यात्रायां यत् फलं भवेत् ।
आदिनाथस्य देवस्य, स्मरणेनापि तद् भवेत्" ।।७।।

(नाग पुराण)

अर्थः- '६८ तीर्थों में यात्रा करने से जो फल मिलता है' वह फल आदिनाथ-देव का स्मरण करने से भी प्राप्त होता है ।" (श्री ऋषभदेव का दूसरा नाम आदिनाथ भी है ।)

[४] "अर्हन्ता चित्पुरो दर्धेऽशेव देवावर्तते" ।।४।।

[अ ४-४-३२-५ ऋग्वेद]

अर्थः-"जैसे सूर्य किरणों को धारण करता है, वैसे ।

अरिहंत ज्ञान की राशि धारण करते हैं ।"

[५] "मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः ।

अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभिजात उरुक्रमः" ।।५।।

दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः ।

नीतित्रयाणां कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः" ।।६।।

(मनुस्मृति)

अर्थः- "भरतक्षेत्र में छट्ठे कुलकर मरुदेव और सातवें नाभि हुए । आठवाँ कुलकर नाभि द्वारा मरुदेवी से उत्पन्न विशाल चरणवाला ऋषभ हुआ । वह वीर पुरुषों का मार्गदर्शक, सुरासुर द्वारा प्रणत तथा तीन नीतियों का उपदेशक, युग के प्रारम्भ में जिन हुआ ।"

"नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः ।

शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनोयथा" ।।७।।

(योगवाशिष्ठ)

अर्थः- "मैं राम नहीं हूँ, मेरी कोई इच्छा नहीं, पदार्थो में मेरा मन नहीं । जिस प्रकार 'जिन' अपने आत्मा में शान्त भाव से स्थिर रहते हैं उसी प्रकार शांत भाव से मैं स्वात्मा में ही रहना चाहता हूँ ।"

जैनधर्म के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों के मन्तव्य-

जैन धर्म सब प्रकार से स्वतंत्र है, इस ने अन्य किसी धर्म की नकल या अनुकरण नहीं किया ।

डो. हर्मन जेकोबी

जैन धर्म हिन्दु (वैदिक) धर्म से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र धर्म है ।

प्रो. मेक्समूलर

जैन धर्म की स्थापना, प्रारम्भ, जन्म कब से हुआ, इस की शोध करना प्रायः असंभव है । हिन्दुस्तान के धर्मों में जैन धर्म सब से प्राचीन है ।

जी.जे. आर.फरलांग

जैन धर्म के मुख्य (सिद्धान्त) तत्व विज्ञान के आधार पर रचित हैं । जैसे जैसे पदार्थ-विज्ञान प्रगति करता जाता है, वैसे वैसे वह जैन धर्म के सिद्धांतो को सिध्ध कर रहा है ।"

डो. एल. पी. टेसीटोरी (इटाली)

'मुझे जैन धर्म के सिद्धान्त अत्यन्त प्रिय हैं । मेरी यह इच्छा है कि मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में मैं जैन कुल में जन्म लूं ।'

ज्योर्ज बर्नार्ड शो

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध से पूर्व जैनधर्म के अन्य २३ तीर्थंकर हो चुके थे ।

इम्पीरियल गजेटियर ओफ इन्डिया

जैन धर्म के विषय में भारतीय विद्वानों के मन्तव्यों-

अहिंसातत्व के सब से महान प्रचारक महावीर स्वामी ही थे ।

म. गांधीजी

'महावीर का सत्य संदेश हमारे हदय में विश्वबंधुत्व का शंखनाद करता है ।।'

सर अकबर उदैरी

वेदान्तादि अन्य शास्त्रों से पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था

इस में मुझे लेश मात्र भी संदेह नहीं है ।

पं. राममिश्र आचार्य

'अहिंसा की अनोखी भेंट जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर परमात्माओं ने ही प्रदान की है ।'

डो. राधाविनोद पाल

महावीर ने दुंदुभिनाद से हिन्दुस्तान में संदेश फैलाया कि धर्म वास्तविक है । यह आश्चर्य की बात है कि इस सन्देश-शिक्षा ने देश को वशीभूत कर लिया ।

डो. रवीन्द्रनाथ टागोर

श्री महावीरजी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने से हम पूर्ण शांति प्राप्त कर सकते हैं ।

डो. राजेन्द्रप्रसाद

वेदान्त दर्शन से पूर्व जैन धर्म प्रचलित था । जैन- धर्म का प्रचार सृष्टि के आरंभ काल से ही था ।

डो. सतीशचन्द्र

अपने से पूर्व हो गये २३ महर्षियों अथवा तीर्थंकरों द्वारा दिए गए उपदेश की परम्परा का वर्धमान (महावीर स्वामी) ने आगे बढाया । ईस्वीसन् पहले ऋषभदेव के असंख्य उपासक थे । इसे सिद्ध

करने के लिए अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं । यजुर्वेद में भी तीर्थंकरों को मान्यता प्रदान की गई है । अनगिनत समय अथवा युगानुयुग से जैन धर्म प्रचलित रहा है ।

डो. राधाकृष्णन्

जैनधर्म का सरल परिचय

(१) जगत् का सर्जन और संचालन-

सुज्ञ को जिज्ञासा होती है,-

(१) जगत् क्या है? इसका सर्जन व संचालन कैसे?

(२) मैं कौन हूँ?

(३) मेरा कर्तव्य क्या है?

इन विषयों पर संक्षेप में विचार करें ।

(१) जगत् क्या है? :-जगत् केवल जड़ पदार्थ नहीं है । कारण हमारी दृष्टि के सन्मुख दिखाई देनेवाले व्यवस्थित सर्जन और संचालन को केवल जड पदार्थ नहीं कह सकता है । जड में किसी प्रकार की बुद्धि, योजनाशक्ति व उद्यम दृष्टिगोचर नहीं होता है, जो कि ऐसे व्यवस्थित सर्जन व संचालन में अति आवश्यक है ।

अतः यह मानना अति आवश्यक है कि जड़पदार्थ के साथ जीवतत्त्व (पदार्थ) भी काम करता है । विश्व में जीव की बुद्धि,

योजनाशक्ति और उद्यम तथा जड की सहायता द्वारा सर्जन होता है, संचालन होता है । संक्षेप में कहें तो अनादि काल से जड की सहायता और जीव का पुरुषार्थ, इन दोनों के सहयोग से जगत् में सर्जन-संचालन चलता रहता है । जीव की जैसी बुद्धि व उद्यम होता है उसी उसी प्रकार की जीव पर जड कर्म की रज चिपकती रहती है । कर्म के उदय पर जीव को वैसे वैसे जड पदार्थो का संयोग मिलता है और पुरुषार्थ से नया नया सर्जन व संचालन होता रहता है ।

उदाहरण के लिए, माली तो जमीन में केवल खाद डालकर बीज वोता है, व पानी पीलाता है, किन्तु समय जाने पर भिन्न-भिन्न वर्ण, रस, आकृतिवाले पौधे, पत्ते, फूल आदि व्यवस्थित रूप में केसे तैयार होते हैं? वहाँ मानना होगा कि वे पौधे, पत्ते, पुष्प आदि भिन्न-भिन्न जीवों के शरीररूप हैं जो अपने -अपने कर्म से निर्मित है । इससे सिद्ध होता है कि जीव, उनके कर्म, व जड़ पदार्थ मिलकर के यह सर्जन होता है । शरीर-निर्माण के लिए बीज-खाद-भूमि आदि में से व वातावरण में से पुद्गल स्कन्ध आहार के रूप में लिए जाते है ।

उसी प्रकार धरती के भीतर विविध मिट्टी, धातुएँ, पाषाण आदि जो उत्पन्न होते हैं वे भी पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर ही है । उन जीवों के कर्म की विचित्रता से वैसा-वैसा व्यवस्थित सर्जन हुआ है । वैसे ही पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के व्यवस्थित सर्जन के

मूल में जीव और उनके जड़ कर्म काम कर रहे हैं । कर्म के जरिए उन जीवों ने मिट्टी पाषाण आदि के व्यवस्थित रूप में अपने शरीर ही उत्पन्न किए है ।

एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय तक के जीवों के शरीर इसी प्रकार जीव, उनके कर्म एवं जड पदार्थों के सहकार से बनते हैं ।

जीव के सहकार बिना केवल जड़ का भी सर्जन होता है, जैसे कि संध्या के रंग, बादल का गर्जन, बाष्प, छाया, अंधकार आदि उत्पन्न होते हैं । फिर भी जीवों के जो व्यवस्थित शरीर उत्पन्न होते हैं वे उनके पूर्व कर्म के बिना नहीं । वे कर्म भी जीव ने अपने पूर्व जन्म में शरीर के द्वारा उत्पन्न किए हुए होते हैं । वे शरीर भी इसके पूर्व के जन्म के कर्म से बनते हैं । इस प्रकार शरीर और कर्म की धारा अनादि काल से चली आती है, शरीर से कर्म और कर्म से शरीर... । इसका तात्पर्य यह है कि संसार कभी शुरू नहीं हुआ है, किन्तु अनादि काल से चलता आया है । जैसे, बीज में से फल व फल में से बीज... । मुर्गी में से अंडा व अंडे में से मुर्गी... । यह धारा अनादि की है । इसके बदले कभी भी प्रारम्भ होने का आग्रह रखा जाए, तब बीज या फल दोनों में से एक को पैदा होनेका मानना होगा, और वह कारण के बिना ऐसे ही बन गया मानना पड़ेगा ! किन्तु कार्य-कारणभाव के सिद्धान्त अनुसार यह संगत नहीं, युक्तियुक्त नहीं है ।

शरीर को जीव ही बनाता है । पूर्व जन्म में से जीव आ कर जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ के पुद्गल को अपने आहार के रूप में ग्रहण करता है । व उस आहार में से रस, रुधिर आदि का शरीर बनाता है । शरीर में इन्द्रियों को भी वही बनाता है । यह सब अपने पूर्व कर्म के अनुसार बनता है । इसीलिए एक ही माता के गर्भ में क्रमशः आए दो बच्चे अपने भिन्न भिन्न कर्म के कारण ही भिन्न भिन्न वर्ण, आकृति, स्वर आदि भिन्न-भिन्न विशेषतावालें होते हैं ।

जैन शास्त्र बताता है कि संसार में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के अनंत जीव है । जैसे नीमक, मिट्टी, पाषाण, रत्न, धातुएँ... आदि एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीव है । उन्हें शरीर को एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय मिली है । जैसे समुद्र, नदी, तालाब आदि का पानी भी स्वयं जीव का शरीर है यानी वे एकेन्द्रिय अप्कायिक जीव है । वैसे आग भी एकेन्द्रिय अग्निकायिक जीव है ।

जीव अनादि काल से सूक्ष्म अनंतकाय वनस्पति में जन्म-मरण करता हुआ चला आता है । संसार में से एक जीव मोक्ष में जाता है तब इन सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवो में से एक जीव बाहर निकलकर पृथ्वीकायिक आदिक जाति में उत्पन्न होता है, तब वह अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आया ऐसा गिना जाता है । अब तो आगे आगे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि बनकर यावत् पंचेन्द्रिय जाति के नारक, तिर्यंच, मनुष्य या देव रूप में उत्पन्न होता है । इस में केवल ऊंचे ही ऊंचे चढता है ऐसा कोई नियम नहीं, किन्तु

नीचे एकेन्द्रिय जाति तक में गिरता भी है । इसीलिए शास्त्र बताता है कि अनंतानंत काल में अपने जीव ने चारो गतियों में अनंतचक्र काटे है । इस में ऊँचे भी चढ़ा व नीचे भी गिरा ।

प्र०- एकेन्द्रियता से ऊंचे ऊंचे आने में पुण्य कारण है । किन्तु वहाँ धर्म के बिना पुण्य कैसे निष्पन्न होता है?

उ०- पुण्य जैसे धर्म से पैदा होता है वैसे कर्मो का बहुत मार खाने से (अर्थात् अकाम-निर्जरा से) भी पैदा होता है । वहाँ कर्म-लघुता होने से पुण्ययोग्य कुछ 'शुभ' आत्मा में जाग्रत होता है । इससे पुण्य निपजता है । इस प्रकार के पुण्य से जीव ऊपर आता है, और पापाचार से नीची गति में गिर पड़ता है ।

(२)
मोक्ष कैसे होता है?

प्र०- तब क्या अपने जीव को इस भवचक्र में इस प्रकार भटकते ही रहना होता है?

उ०- नहीं, जिन कारणों से संसार निपजता है, उनको रोककर जीव उनसे विपरीत कारण का सेवन करे, तो संसार का अन्त व मोक्ष निष्पन्न हो जाए यह बिलकुल युक्तियुक्त है । यह इस प्रकार,-

मिथ्यात्वादि कारणों से जीव का भवभ्रमण होता है; व उनका त्याग कर सम्यगदर्शनादि उपायों के सेवन से भव से मुक्ति होती है ।

प्र०- शास्त्र बताता है कि जीव ने अतीत अनंतकाल में अनंत बार मनुष्य जन्म पाया व उन में अनंत बार चारित्र भी लिया, तो फिर मोक्ष क्यों न हुआ?

उ०- मोक्ष शुद्ध धर्म की साधना से होता है । शुद्ध धर्म वीतराग सर्वज्ञ भगवान से कथित धर्म को ही कहते है । उसकी भी साधना विषय वैराग्य के साथ-साथ ही हो, तभी वह शुद्ध धर्म है । अलबत्त; अतीत अनन्त काल में अनंत बार चारित्र लिया, किन्तु वह मानव-भव के सुख, सन्मान की या देवभव के सुखों की लालच से लिया । विषय वैराग्य के साथ चारित्र ले एवं पाले, तब तो अल्प भव में मोक्ष हो सकता है । यहाँ हम वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान के धर्मशासन के साथ आर्य-मानवजन्म पाए है । तब विषय-वैराग्य के साथ उस धर्मशासन की आराधना करनी वहीं हमारा अनन्य कर्तव्य है ।

प्र०- विषय वैराग्य कैसे होता है?

उ०- मन में यह विचार आना चाहिए कि इन्द्रियों के जिन विषयों के सेवन से आज तृप्ति पाता हूँ, कल उन्हीं विषयों की फिर भूख खड़ी होगी । वहाँ भी विषयों से उसकी तृप्ति करने पर भी नए दिन नयी विषय-भूख खड़ी होती है । तब (१) ऐसा विषय-सेवन का बेगार श्रम-क्यों उठाना? उपरान्त (२) जीवन समाप्त होते ही सब नष्ट ! बाद नए जन्म में नया शरीर-निर्माण ! और नया विषय-

सेवन यह जीव की बिडम्बना है । (३) "उग्र विषय-लगन से संसार के हल्के भवों में भटकना पड़ता है । वहाँ तो कभी गंदे विषयों की भी लगन रहती है, जैसे सुवर को विष्ठा की, कौए को कफ लींट की !", विषयों का इस प्रकार चिंतन करने से उनके प्रति घृणा-नफरत-अभाव उत्पन्न होता है । वैसे, जिस संसार में बिडम्बना है, उस संसार से भी सुज्ञ जीव उब जाता है । यहीं वैराग्य है ।

ऐसे वैराग्य के साथ तीर्थंकर कथित दान-शील-तप-भावना व सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रमय धर्म में ही पुरुषार्थ लगाए तब जीव का मोक्ष होता है ।

कार्यमात्र में ५ कारण जरूरी-

इतना ध्यान में रहे कि जगत में सामान्य रूप से कोई भी कार्य भवितव्यता, स्वभाव, काल, कर्म व पुरुषार्थ,-इन पांच कारणों से होता है । (१) भवितव्यताः- इसने हमें अनादि सूक्ष्म अनंतकाय में से बाहर निकाला । क्यों कि वहां तो, यहां से एक जीव मुक्त होने पर 'कौन जीव बाहर निकले?' इस की व्यवस्था बाकी के चार कारण नहीं कर सकते हैं । यह तो भवितव्यता ही व्यवस्था करती है । जिसकी भवितव्यता बलवान होती है वह जीव अनादि निगोद से बाहर आता है । (२) बाद 'भव्यत्व' स्वभाव ही जीव को शुद्ध धर्म की ओर खींच लाता है । अभव्य को मोक्ष ही नहीं, तो शुद्ध धर्म भी नहीं । (३) अचरमावर्त काल की समाप्ति जीव को चरमावर्त काल यानी मोक्ष

मार्ग- साधनायोग्य काल में ला देती है । (४) बाद जीव के कर्म जीव को आराधना की सामग्री से संपन्न मनुष्यभव में ला देते हैं । अब यहाँ (५) अंतिम कारण चारित्रधर्म का जीव का 'पुरुषार्थ' जीव को आगे आगे बढ़ाकर मोक्षतक पहुँचाता है । अब यहाँ पूछा जाए की चारित्रधर्म क्यों नहीं लेते हो? इसका अगर उत्तर करें कि-'हमारा पुण्यकर्म का उदय नहीं है', तो यह झूठा उत्तर है । कहना चाहिए कि 'हमारे पुण्यकर्मने तो हमें यहाँ तक ला दिया है, अब पुरुषार्थ करेंगे तभी धर्म होगा ।'

मुख्यतया संसार के विषय में शुभाशुभ कर्म काम करते हैं, जब कि धर्म के विषय में पुरुषार्थ काम करता हैं ।

धर्म एक वृक्ष हैः इसका बीज सत्प्रशंसादि-

अगर आत्मा में किसी भी दानादि या क्षमादि धर्म का पाक निपजाना है, तो पहले उस धर्म के बीज बोने चाहिए । 'बीजं सत्प्रशंसादि'- बीज है उस धर्म की निर्माय (माया रहित) सम्यक् प्रशंसा-आकर्षण-अहोभाव । तपस्वी का जुलुस देखकर लोग प्रशंसा करते है-'अहो ! कैसा तपस्वी !' यह प्रशंसा उन लोगों के दिल में तप-धर्म का बीज बोती है । बाद में उस धर्म की चिन्ता-अभिलाषा, धर्म का शास्त्रश्रवण, एवं धर्मप्रवृत्ति का अभ्यास (प्रेक्टिस) होती है । यह सब बीज पर अंकुर-नाल-पत्र-पुष्प है । अन्त में 'फलपाक' के रूप में वह धर्म सिद्ध होता है ।

मोक्षमार्ग की दृष्टि से देखें तो जीवन में पहले सम्यग्दर्शन स्वरूप मोक्षमार्ग लाने के लिए जीवन में मार्गानुसारी गुणों का अभ्यास जरूरी है । एवं सम्यक्त्व की करणी में जिनपूजा, गुरुभक्ति, जीवदया, व्रत-नियम, जिनवाणी-श्रवण आदि का उद्यम करना जरूरी है । इससे सम्यग्.दर्शन आता है । आगे बढ़कर सम्यक् चारित्र का पुरुषार्थ करना होता है । चारित्र की पराकाष्ठा में वीतरागता, केवलज्ञान व मोक्ष होता है ।

(३)
जीवन में धर्म की क्या जरूर है?

जीवन में सुख की जितनी जरूर है उससे तो कई गुनी अधिक धर्म की जरूर है, (१) क्यों कि सभी शास्त्र 'सुखं धर्मात्, दुःखं पापात्' अर्थात् 'धर्म से सुख, और पाप से दुःख',-यह सनातन सत्य बताते हैं । तात्पर्य, जब सुख धर्म से ही मिलता है, व हमें जब सुख की ही कामना है, तब सहज है कि हमें धर्म अति जरूरी है ।

(२) व्यवहार में भी हम दूसरों के पास से यही अपेक्षा रखते हैं कि "वे हमें नहीं मारें, यानी हमारी हिंसा न करें, हमारे सामने झूठ न बोलें, हमारी वस्तु की चोरी न करें, हमारी स्त्री के सामने नहीं देखें व हमारे परिग्रह में रुकावट न करें ।" यह दूसरे में जो अहिंसा, जूठ त्याग आदि की हमें अपेक्षा है, ये क्या है,? ये 'अहिंसादि धर्म' की ही अपेक्षा है । अगर दूसरों के पास से हम

धर्म की ही अपेक्षा रखते हैं, तब दूसरों को भी हमारे पास से इसी धर्म की ही अपेक्षा है कि,- 'हम उसको न मारें, उसके आगे झूठ न बोलें.....' इत्यादि । नास्तिक को भी अन्यों की तरफ से ऐसे ही धर्म की ही अपेक्षा रहती है ।

प्र०- ठीक, ऐसे अहिंसादि धर्मो की अपेक्षा हो, किन्तु देवदर्शन, गुरुवंदन, दान, शील, तप आदि धर्म की क्या जरूर है?

उ०- अगर हम समझते हैं कि हमारा मानवजन्म अनार्य एवं पशु आदि की अपेक्षा बहुत ऊँचा है, तो हमारा जीवन भी ऐसे उच्चकोटि का ही होना चाहिए न? उच्च बनता है, - विषयवैराग्य, उदारता, उमदापन, उच्च तात्त्विक-आध्यात्मिक विचारसरणी से, एवं पूज्यो और उपकारियों के प्रति विनय-सेवा इत्यादि उत्तम जीवनकरणी से । जीवन में ये लाने के लिए हमें सर्वोच्च कोटि के जीवनवालें देवाधिदेव, त्यागी सद्.गुरु एवं धर्मात्माओं का अवलंबन करना पडेगा । उनके उत्तम आदर्शों को हमारी दृष्टि के सामने सतत रखना पडेगा, जिस से ऐसा जीवन जीना सरल हो सके ।

कीट-पशु-अनार्य मनुष्य बेचारे यह कहाँ से कर सके? उत्तम पुरुषों को आदर्श रूप में हमारी दृष्टि के सामने रखने के लिए देवदर्शन, पूजा, गुरुवंदन, गुरुभक्ति, गुरु के उपदेश का श्रवण, धर्मात्माओं का संपर्क एवं दान-शील-तप आदि धर्म करते रहेना पडेगा और ऐसा करनेवालों के जीवन में पवित्रता, उदार चरित एवं परोपकार

भी दिखाई पड़ते हैं । सारांश,

देव-गुरु-भक्ति-दया-दान-शील-तप आदि धर्म की आवश्यकता इसलिए है कि-

(१) इन से पापक्षय एवं पुण्योपार्जन होता है, और इस पुण्य से परलोक में सद्‌गति मिलती हैं ।

(२) दान-शील-तप से इस जीवन में भी हमारे में परार्थवृत्ति, पवित्रता एवं सहिष्णुता आदि के बढिये गुण प्राप्त होते हैं, जिन से जीवन सुखद व शांतिमय बनता है ।

(३) जिसने जीवन में ऐसे बहुत से धर्मकृत्य किए हैं, उसको जीवन के अंतिम काल में उन धर्मकृत्यों की अनुमोदना एवं सद्‌गति का आश्वासन मिलता है । वह समझता है कि 'इन धर्मकृत्यों से मैं अच्छी गति में ट्रान्सफर होनेवाला हूँ ।' वास्ते ही मृत्यु पर उसे खेद नहीं, और वह हसता-खिलता मरेगा । जीवन में जिसने धर्म किया ही नहीं है, वह किस पर ऐसा आश्वासन ले सके? उसे तो रोते रोते ही मरना पड़ता है । कहिए, मनुष्य-जन्म का अन्तिम काल अच्छा लाने के लिए भी जीवन में धर्म की ही बहुत आवश्यकता है ।

(४) हम मानव-जन्म जो पाए हैं, वह पूर्व जन्म के धर्म से ही पाये हैं, नहीं की पापों से । अगर पापों से मानव-जन्म मिलता हो,

तब तो सारी दुनिया पाप कर रही है, तो वे सब के सब दूसरे जन्म में मानव हो जाए !! तब तो मानवों की संख्या असंख्य-अनंत दिखाई पड़े ! किन्तु ऐसा दिखता नहीं है । इससे यह सूचित होता है कि जैसे पूर्वजन्म के धर्म से ही हम मानव जन्म पाएँ, वैसे ही इस जन्म में भी हम अगर धर्म करते रहेंगे, तभी हमें अगले जन्म में मानव जन्म मिलनेवाला है ।

(५) जगत् में जो सद् व्यवहार चलता है, वह अनाडी लोगों के पापजीवन से नहीं, किन्तु सज्जनों के धर्म-जीवन से चलता है । वास्ते जीवन में धर्म अत्यन्त जरूरी है ।

"व्यसनशतगतानां, क्लेशरोगातुराणाम् ,

मरण-भयहतानां, दुःखशोकार्दितानाम् ।

जगति बहुविधानां, व्याकुलानां जनानां,

शरणमशरणानां, नित्यमेको हि धर्मः" ।।

भावार्थः- सैंकडो संकट-ग्रस्तों के लिए, क्लेश व रोगों से पीडितों के लिए, मरण-भय से त्रस्तों के लिए, दुःख-शोक से व्यथितों के लिए, तात्पर्य, अनेक प्रकारेण व्याकुलों के लिए, तथा अशरण (निराश्रितों) के लिए संसार में सदा धर्म ही एक मात्र शरण है ।

(४)

जगत् कर्ता कौन? ईश्वर नहीं !

ईश्वर जगत् को बनाते नहीं, किन्तु बताते है । विश्व का सृजन-संचालन कोई ईश्वर नहीं करता ।

इसका सृजन व संचालन तो जीव और सहारा कर्म का । यदि ऐसा न मानकर हम ईश्वर को जगत्-कर्ता माने तो अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं । जैसे कि

(१) ईश्वर को क्या प्रयोजन है जिसके निमित्त वह इस समस्त दुविधा में ग्रस्त हो?

(२) वह अमुक प्रकार का ही निर्माण क्यों करता है?

(३) इश्वर को दयालु माना गया है । यदि इश्वर को जगत्कर्ता माना जाए तो क्या वह दयालु इश्वर जीव को दुःख देनेवाले प्रदार्थो की रचना कर सकता है?

(४) ईश्वर यह समस्त रचना किस शरीर से करता है? वह शरीर कैसे बना? किससे बना? इत्यादि ।

इन प्रश्नों के उत्तर पर विचार करने से ईश्वर के विषय में एक विचित्र-सा चित्र प्रस्तुत होता है । जैसे कि-

(१) यदि ईश्वर किसी प्रयोजन के बिना ही सृष्टि और संहार

करता है तो उसे मूर्खतापूर्ण खेल कहा जाएगा ।

(२) यदि वह क्रीडावश करता है तो उसे बालक कहा जाएगा ।

(३) यदि वह दयावश ऐसा करता है तो वह सब को सुखी बनाए और सब के लिए सुख साधनों का निर्माण करें । ऐसा करते नहीं है, इस से उसमें दया की त्रुटि महसूस होती है ।

(४) यह कहा जाता है कि "ईश्वर तो न्यायाधीश है । अतः वह जीव के अपराधों का दंड देने के लिए दुःख के साधनों की रचना करता है । " अब यहां प्रश्न खड़ा होता है कि, -

यह सब कुछ करने की क्षमतावाला ईश्वर तो सर्व - शक्तिमान गिना जाए, और उसे दयावान तो माना ही गया है, तो वह ईश्वर जीव को अपराध ही क्यों करने देता है? जिसके फलस्वरुप उसे बाद में दंड देना पडे? यदि पुलिस अपनी आँखों के सामने ही किसी को दूसरे की हत्या करते हुए देखती रहे, तो वह पुलिस भी अपराधी गिनी जाएगी । तब क्या ईश्वर को अपराधी गिनेंगे? अथवा क्या ऐसा मान लेंगे कि सर्वशक्तिमान ईश्वर के पास अपराधी को रोकने की शक्ति नहीं है? या क्या 'वह निर्दय है' ऐसा माना जाए?'

इसके अतिरिक्त कुछ और भी प्रश्न उपस्थित होते हैं :-

(१) यदि ईश्वर विश्व का निर्माण व संचालन करता है तो यह सब कुछ कहां बैठकर करता है?

(२) यदि ईश्वर साकार यानी सशरीर है तो उसके शरीर का निर्माता कौन?

(३) यदि उसे निराकार मानते हो तो निराकार ऐसा ईश्वर इस साकार विश्व की रचना किस प्रकार कर सके?

सारांश यह है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है । यदि जीवों के जैसे कर्म तदनुसार ईश्वर उनकी रचना करता है तो दरअसल कर्ता कर्म हुए, ईश्वर कर्ता नहीं ।

तात्पर्य, ईश्वर जगत् को बनानेवालें नहीं किन्तु बतानेवालें हैं ।

ईश्वर यानी सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान समग्र विश्व का स्वरूप बताते हैं । एवं विश्व के अंतर्गत जड-चेतन द्रव्यों की गति-विधियाँ स्पष्ट करते हैं, अर्थात् उनके विषय में यथार्थ प्रकाश डालते हैं ।

प्र०- वृक्ष, पत्थर की खान आदि में काटने छेदने के बाद लम्बे समय पर जैसे के वैसे ईश्वर कर्तृत्व के बिना कैसे एक रूप में भर जाते हैं?

उ०- जैसे मानव-शरीर में जीव की शक्तिवश घाव भर जाता है, वैसे वहां भी एकेन्द्रिय जीव की शक्तिवश अखंड हो जाता है ।

पेड़, खान आदि में जीवसत्ता होने में यही प्रमाण है । मानव-शरीर में जीव रहने तक घाव भर जाता है, व जीव निकल जाने के बाद शरीर जड निर्जीव हो जाने से घाव नहीं भरता है, वैसे

ही पेड़, खान आदि में बनता है ।

धरती, खाद, बीज, पानी आदि के विद्यमान होने पर भी वहां जीवों का प्रवेश हो जाने पर ही वे जीव खुराक लेकर बीज में से हरे अंकुर, कत्थई तने, हरे पत्ते, गुलाबी फूल, मधुर फलादि रूप में अपने अपने शरीर बनाते है ।

(५)
धर्म परीक्षा

प्रश्न है कि कौन सा धर्म वास्तविक सच्चा धर्म हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जो धर्म स्वर्ण के समान कष, छेद और ताप की त्रिविध परीक्षा में सच्चा उतरे, उत्तीर्ण हो, सफल हो, वही सच्चा धर्म है । ऐसा धर्म ही आदरणीय है । त्रिविध परीक्षा इस प्रकार है,-

(१) कष-परीक्षा :- 'कष' अर्थात् कसौटी परीक्षा में वह उत्तीर्ण है जिस में उचित 'विधि-निषेध' का कथन हो ! अर्थात् 'करने योग्य करने का और न करने योग्य का त्याग करने' का आदेश हो । उदाहरण के रूप में कहा कि-'तप-स्वाध्यायादि करना' यह कथन 'विधि' है । 'हिंसादि नहीं करना' यह कथन -'निषेध' है । ये विधि-निषेध उचित है, योग्य है ।

(२) छेद-परीक्षा :- विधि-निषेध के अनुरूप यानी योग्य/संगत

आचार-अनुष्ठान जिस धर्म में आदिष्ट हो वह धर्म 'छेद' परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता है, जैसे कि वैदिक धर्म में पहले तो निषेध किया गया कि 'किसी जीव की हिंसा न की जाए ।' किन्तु बाद में अनुष्ठान के रूप में आदेश दिया कि 'पशुओं को मारकर स्वर्ग का अर्थी यज्ञ करे' इस अनुष्ठान को पूर्व 'निषेध' आदेश के अनुरूप नहीं कहा जा सकता ।

किन्तु जैनधर्म में साधु के लिए कथन है- 'समिति-गुप्ति का पालन करो, अर्थात् इस प्रकार चलो, बोलो, उठो, बैठो, भिक्षा लो, जिस में अहिंसा हो, जीव रक्षा हो' । गृहस्थ श्रावक के लिए भी सामायिक, व्रत, नियम, गुरु-भक्ति, देवभक्ति आदि के अनुष्ठान इस प्रकार के बताए गए हैं कि वे विधि-निषेध से विपरीत नहीं है, उनके अनुरुप हैं ।

(३) ताप-परीक्षा :- जिस में विधि निषेध और आचार-अनुष्ठान युक्तियुक्त बने-उपपन्न बन सके ऐसे ही तत्त्व और सिद्धान्त मान्य हों, यह धर्म ताप परीक्षा में उत्तीर्ण है ।

वेदान्त में तत्त्व यह माना कि- 'विश्व में एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही तत्त्व है ।' लेकिन यदि ऐसी बात हो तो विधि-निषेध किस लिए? निषेध हैं कि- 'किसी जीव को मारना नही' यदि आत्मा एक ही है, दूसरी आत्मा ही नहीं है, तो फिर हिंसा किस की? कौन किसे मारता है?

बौद्धो ने तत्त्व माना कि 'आत्मा एकान्ततः क्षणिक है' यह भी असंगत है, क्योंकि यदि आत्मा क्षणिक है तो निषिद्ध हिंसा के अनाचरण का फल, तथा विहित तप-ध्यान के आचरण का फल किसे मिलेगा? क्योंकि हिंसा अथवा तप-ध्यान करनेवाली आत्मा तो क्षण में नष्ट हो गई ! अतः सिद्ध हुआ कि क्षणिकत्व सिद्धान्त विधि-निषेध को संगत नहीं है ।

एवं एकान्तवाद के सिद्धान्तों में भी असंगति है । जैसे, न्याय-दर्शन के मत में जीव एकान्तरूप से नित्य है । इसमें भी असंगति है, क्योंकि एकान्त नित्य में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता; तब तो फल के भोग के लिए आवश्यक परिवर्तन का अवकाश ही कहाँ रहेगा? यदि ऐसा परिवर्तन नहीं होगा तो विधि-निषेध किस पर लागू होगा?

अतः ऐसे तत्त्व-सिद्धांत की मान्यता में विधि-निषेध और आचार-अनुष्ठान संगत नहीं हो सकते ।

जैनधर्म का कथन है, तत्त्व में 'आत्मा अनन्त है,' और 'अनेकान्तवाद के सिद्धान्त में आत्मा नित्यानित्य है ।' अतः विधि-निषेध और आचार, ये तत्त्व एवं सिद्धान्त के साथ संगत है । तत्त्व से आत्माओं की अनन्तता के कारण एक द्वारा दूसरे की हिंसा का प्रंसग संभव है । सिद्धान्त से नित्यानित्य होने के कारण जीव द्रव्यरूप से नित्य है, और पर्याय (अवस्था) रूप से अनित्य है । अवस्था में

यह परिवर्तन होने के कारण फल भोगने के लिए दूसरी अवस्था की पूरी पूरी संगतता है ।

इस प्रकार जैनधर्म कष, छेद और ताप; इन तीन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के कारण सौं टच के सोने के समान शुद्ध है । इससे यह समझा जा सकता है कि धर्म का स्वरूप क्या हो सकता है ।

(६)
जैनधर्म यह विश्व धर्म है ।

जैनधर्म यह सचमुच 'विश्वधर्म' है, कारण कि,

(१) जैनधर्म समग्र विश्व का यथास्थित स्वरूप प्रगट करता है ।

(२) जैनधर्म ऐसे नियम, सिद्धान्त आचार व तत्त्वों का निर्देश करता है कि जो समस्त विश्व द्वारा ग्राह्य है ।

(३) जैनधर्म में इष्टदेव एसे तीर्थंकर हैं कि जिन के वीतरागता, सर्वज्ञता, सत्यवादिता आदि विशिष्ट गुण विश्व को मान्य है ।

(४) जैनधर्म समग्र विश्व के जीवों को अपनी कक्षानुसार अपुनर्बंधक अवस्था से लेकर वीतरागता तक के धर्मो का प्रतिपादन करता है ।

(५) जैनधर्म में समस्त विश्व के युक्तिसिद्ध और सद्‌भूत तत्त्वो पर प्रकाश डाला गया है ।

(६) जैनधर्म में ऐसे अनेकान्तवाद आदि सिद्धान्त तथा अहिंसा, अपरिग्रहादि आचार बताये गये हैं, जिनसे समग्र विश्व की दुःखद समस्याओं का समाधान हो सकता है ।

जैनधर्म में परमात्म बनने की सोल एजन्सी किसी एक को नही दी गइ है विश्व में किसी को भी यह अधिकार मिल सकता है ।

महात्मा गांधी के पुत्र देवीदास गांधी ने लण्डन में एकबार समर्थ नाट्यकार और महान् चिन्तक जोर्ज बर्नाड शॉ से प्रश्न किया- 'यदि परलोक का अस्तित्व हो तो आप अब यहाँ से दूसरा जन्म कहाँ लेने की इच्छा रखते हैं?'

उन्होनें उत्तर दिया- 'मैं जैन होना चाहता हूँ ।'

देवीदासने पुनः पूछा-'परलोक में विश्वास रखनेवालें हमारे यहाँ तीस करोड हिन्दु हैं । उन्हे छोडकर आप बहुत छोटी कम्युनीटी (जनसंख्यक कोम) में जन्म क्यों चाहते हैं?'

बर्नाड शॉ ने कहा - 'हिन्दु धर्म में ईश्वर-परमात्मा बनने का अधिकार (Sole Agency) किसी एक व्यक्ति को दिया गया है । परन्तु जैनधर्म में विशिष्ट योग्यता से संपन्न कोई भी व्यक्ति आत्मा की उन्नति-उत्थान कर के परमात्मा बन सकता है । तो मैं इस पंक्ति में क्यों न खडे होऊँ? दूसरा कारण यह है कि जैनधर्म में व्यवस्थित, क्रमिक व वैज्ञानिक उत्क्रान्तिमार्ग बताया गया है, ऐसा अन्य धर्म में नहीं ।'

मतलब, जैनधर्म ही विश्वधर्म है ।

(७)

विश्वः षड्द्रव्य-समूहमयः पंचास्तिकायमय

यह विश्व क्या है? विश्व जीव और जड द्रव्यों का समूह है । जड द्रव्यों में (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय; ये ४ अस्तिकाय, और (५) कालद्रव्य; ये पांच आते हैं । इन में जीवास्तिकाय मिलाने से षड् द्रव्य होते हैं ।

प्र०- अस्तिकाय का अर्थ क्या है?

उ०- 'अस्ति' = प्रदेश (सूक्ष्मांश) काय = समूह; प्रदेशों का समूह ।

अर्थात् 'जिस में अति सूक्ष्मांशो का समूह है ऐसा द्रव्य यह अस्तिकाय हैं' । धर्मास्तिकायादि पांच द्रव्यों में सूक्ष्मांश होते हैं, जैसे कि आकाश एक अखंड द्रव्य होने पर भी 'इस के अमुक भाग में सूर्योदय होता है, दूसरे भाग में नहीं', यह 'भाग' का व्यवहार इसके अंश से ही हो सकता है । कालद्रव्य मात्र वर्तमान एक समय रूप होने से इस में अस्तिकाय (यानी प्रदेशों का समूह) नहीं होता है । वास्ते अस्तिकाय पांच है और द्रव्य छः है ।

प्र०- धर्मास्तिकाय जैसे द्रव्य होने में प्रमाण क्या है?

उ०- (१) धर्मास्तिकाय :- यह जीव और पुद्‌गल की गति में सहायक द्रव्य हैं और वह लोकव्यापी लोकान्त तक है । इसीलिए जीव और पुद्‌गल मात्र लोकान्त तक जा सकते हैं; जैसे मछली पानी के तट तक ही जा सकती है, बाहर नहीं । अगर ऐसा धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं होता तो जीव तथा पुद्‌गल गति करते करते अनंत अलोक में बिखर जाते ! तब विश्व मात्र लोकव्यापी व्यवस्थित रूप में रह सकता नहीं । यही धर्मास्तिकाय द्रव्य के अस्तित्व का प्रमाण है ।

(२) अधर्मास्तिकाय :- यह लोकव्यापी द्रव्य जीव और पुद्‌गल को स्थिरता करने में सहायक द्रव्य है । उदाहरणार्थ अशक्त बुढे आदमी को चलते चलते कहीं खडे रहने में कोई दिवार वगेरह का सहारा रहता हैं ।

(३) आकाशास्तिकाय :- यह और द्रव्यों को अवकाश देनेवाला आधार द्रव्य है । इसके जितने भाग में और द्रव्य रहते हैं, यह भाग 'लोकाकाश' कहा जाता है । यह १४ राजलोक प्रमाण हैं । इससे बाहर के अनंत आकाश को 'अलोकाकाश' कहा जाता है ।

प्र०- आकाश तो शून्य होता है, यह द्रव्य कैसे?

उ०- खाली शून्य अर्थात् असत् (अभाव) यह आधार नहीं बन सकता । आधार तो द्रव्य ही हो सकता है । कहते हैं-'छोटे घर में बडी अलमारी की जगह नहीं है ।' यह 'जगह' ही 'आकाश द्रव्य का इतना भाग' है । 'यहाँ से इंग्लेन्ड तक का आकाश कम

है, अमेरिका तक का आकाश बडा है ।' यह व्यवहार शून्य को लेकर नहीं हो सकता, क्यों कि शून्य अर्थात् अभाव । अभाव में छोटा बडा क्या? छोटे-बड़े का व्यवहार द्रव्य को लेकर ही हो सकता है । 'छोटा द्रव्य' 'बडा द्रव्य' ऐसा बोल सकते है, किन्तु 'छोटा अभाव (शून्य)', 'बडा अभाव' - ऐसा नहीं बोल सकते ।

(४) पुद्गलास्तिकाय :- पुद्गलास्तिकाय वह है जिस में विविध वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श व आकृति हैं । यह चक्षु से स्पष्ट दिखाई पडते हैं, वास्ते वह प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध है । अलबत्त; अणु-परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य का चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी इनके कार्यरूप प्रत्यक्ष-सिद्ध स्थूल द्रव्य से वे सिद्ध है । पुद्गल द्रव्य का विस्तार आगे बताया जाएगा ।

(५) कालद्रव्य- यह अत्यंत सूक्ष्म एक समयरूप है । यह द्रव्य स्वरूप होने में प्रमाण यह है कि वह काल ही पुद्गल द्रव्य में नया-पुराना आदि व्यवहार कराता है । अगर कालद्रव्य ही न हो, तो पुद्गल द्रव्य को तो सुबह क्या? या दोपहर क्या? वह तो वही है । फिर इस में सुबह 'नया' और दोपहर में 'पुराना' ऐसा भिन्न भिन्न व्यवहार कैसे हो सकता है? कहना होगा कि- 'सुबह' एवं 'दोपहर' यह कालद्रव्य के ही संयोग का दर्शक है ।

(६) जीवास्तिकाय :- यह जीवद्रव्य ज्ञान, दर्शन, वीर्य पुरुषार्थ, सुख आदि गुणों से सम्पन्न प्रसिद्ध द्रव्य है । इसका विवेचन पूर्व

में आया है और आगे भी आएगा ।

ये मूल छः द्रव्य शाश्वत है, अविनाशी है । अलबत्त; इनकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है । **यानी उत्पाद**, व्यय और ध्रौव्य की महासत्ता की अनुभूति करते हुए इन द्रव्यों में जो अवस्था यानी 'पर्याय' का परिवर्तन हुआ करता है, वही विश्व का संचालन है ।

(८)
द्रव्य-गुण-पर्याय

विश्व धर्मास्तिकायादि षड् द्रव्यात्मक है और वे द्रव्य मूल रूप में स्वतंत्र हैं, व अनादिकाल से हैं । 'स्वतंत्र' का तात्पर्य- 'एक मूल द्रव्य कभी भी अपर मूल द्रव्यात्मक नहीं होता है' । 'अनादि कालीन' का तात्पर्य-कभी भी वे नये उत्पन्न नहीं हुए हैं ।' अब इस पर प्रश्न होता है कि छः द्रव्यो में पुद्गल एवं जीवद्रव्यो का संचालन (working) केसे चलता है?

जैन दृष्टि से द्रव्यों का संचालन और कुछ नहीं किन्तु द्रव्यों में गुण-पर्यायों (अवस्थाओं) का परिवर्तन मात्र है । उदाहरणार्थ-हाथी खरगोश की दया कर मरके मेघकुमार नाम श्रेणिकराजा का पुत्र बना । यह उसके आत्मद्रव्य में वैसे हाथी-पन का पर्याय (अवस्था) नष्ट हो मनुष्यपन का पर्याय (अवस्था) की उत्पत्ति हुई ।

प्र०- गुण और पर्याय में क्या अन्तर है ।

उ०- 'सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्यायाः'।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र के ये दो सूत्र कहते हैं कि- द्रव्य में एक साथ रहनेवालें गुण कहलाते हैं, व क्रमसर आनेवाले पर्याय कहलाते हैं । उदाहरणार्थ-जीव में ज्ञान, श्रद्धा, इच्छा, सुख आदि एक साथ होते हैं, ये गुण हैं । किन्तु बालपन, कुमारपन, वृद्धपन इसी प्रकार मनुष्यपन, देवपन, तिर्यंचपन आदि क्रमसर आते ये पर्याय है । वैसे जड-द्रव्य वस्त्र में जो श्वेतवर्ण, मृदु स्पर्श, आदि एक साथ रहते है वे 'गुण' हैं; और अभी नया, बाद में पुराना, पहले अमुक की मालिकी का, बाद में अन्य की मालिकी का...ये क्रमशः आनेवाले सब वस्त्र के 'पर्याय' हैं ।

जीवद्रव्य के दो प्रकार के पर्याय है,-ज्ञान, श्रद्धा, वीर्य, तप आदि स्वाभाविक पर्याय है, और राग-द्वेष-काम-क्रोध आदि वैभाविक अथवा औपाधिक या आगंतुक पर्याय है ।

द्रव्यों में वैसे वैसे कर्म के उदय एवं अन्य कारणों के मिलने पर जो गुण-पर्यायों में उत्पत्ति, नाश या परिवर्तन होता रहता है वही विश्व का संचालन है ।

छः द्रव्यों के गुण पर्यायो का सरल कोष्टक

द्रव्य	गुण	पर्याय
जीव	स्वाभाविकगुण,-ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्यादि। वैभाविकगुण, - मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि।	मनुष्यत्व, देवत्व, बालकपन, यौवनादि ।
पुद्गल	रूप, रस, गंध, स्पर्श आकृति, गुरुता, लघुता	अमुक जाति, (जातमात) स्वामित्वसंबंध, कालसंबंध, अमुक स्थानस्थाता, प्रकाश-अंधकार
आकाश	अवगाह, अवकाशदान	घटाकाश, गृहाकाश
धर्मास्ति-काय	गति-सहायकता	जीव धर्मास्तिकाय पुद्गल धर्मास्तिकाय
अधर्मा-स्तिकाय	स्थिति-सहायकता	जीव अधर्मास्तिकाय पुद्गल अधर्मास्तिकाय
काल	नया पुराना करने की 'वर्तना'	वर्तमान काल, भूतकाल, बाल्य, तारुण्य आदि

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्

जगत् में पदार्थ मात्र सत् है, क्यों कि जो सत् है उसी का ज्ञान होता हैं । जो असत् है उसका ज्ञान कभी नहीं होता । जैसे कि आकाशकुसुम, गर्दभशृंग । इतर लोग सत् की व्याख्या- 'अर्थक्रियाकारी सत्' ऐसी करते हैं, अर्थात् कुछ न कुछ कार्य करनेवाला हो यह सत् है । किन्तु ध्वंस-विनाश यह भी अपना 'ज्ञान' कार्य कराता है । किन्तु यह सत् कैसे कहलायेगा?

जैन दर्शन 'सत्' की व्याख्या 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' ऐसी करते है । इस व्याख्या में दीपक जो क्षण क्षण नष्ट व उत्पन्न होता है, यह भी आएगा और आकाश जो सदा नित्य है, वह भी आएगा, क्यों कि दीपक के मूलभूत अणु ध्रुव (नित्य) है व उसमें से नयी नयी ज्योत उत्पन्न होती है और पूर्व पूर्व ज्योत नष्ट होती नष्ट ज्योत के तामस है । पुद्गल वातावरण में फैल जाकर कायम रहते है, तो दीपक भी उत्पाद व्यय-ध्रौव्य युक्त बना । वैसे ही महाआकाश ध्रुव है और घडा फूट जाने से घटाकाश नष्ट हुआ और गृहाकाश उत्पन्न हुआ । उदाहरणार्थ, -सोने का कंगन तोडकर हार बनाया वहाँ कंगन नष्ट हुआ, हार उत्पन्न हुआ और सोना कायम रहा । सत् में ही ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते है, किन्तु आकाशकुसुम जैसे असत् में नहीं । जीव मनुष्यरूप में मरता यानी नष्ट होता है और देव रूप में उत्पन्न होता है लेकिन जीवरूप में ध्रुव रहता है । कहो,

सारे जगत में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की महासत्ता व्यापक है । इस को अगर ध्यान में रखा जाए तब वस्तु के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं होगा ।

प्र०- सोने के दृष्टांत में कंगन नष्ट हुआ सोना कहाँ नष्ट हुआ है? वैसे ही हार उत्पन्न हुआ, सोना कहाँ उत्पन्न हुआ? तब सोने में उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य तीनों कहाँ आये? वैसे ही उत्पादादि तीनों कंगन में कहाँ आये? हार में भी कहाँ आये?

उ०- यह तुम्हारा एकांत दर्शन है । अनेकांत दृष्टि से देखो तो तीनों का इस प्रकार समन्वय मिलेगा । सोने को छोडकर कंगन व हार स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं किन्तु सोने के रूप में ही रह सकते हैं । अतः कहा जाए कि कंगन का सोना ही सोने के रूप में स्थायी रहकर के कंगन के रूप में नष्ट हुआ, व हार के रूप में उत्पन्न हुआ । सोना द्रव्य है, और कंगन व हार इस के पर्याय है । पर्याय द्रव्य में ही आते जाते हैं । वे द्रव्य को छोड़कर कहीं भी स्वतंत्र रूप में नहीं होते है । वैसे ही गुण भी स्वतंत्र नहीं किन्तु द्रव्याश्रित ही रहते है । वास्ते 'गुण पर्याय युक्तं द्रव्यम्' - 'गुणपर्यायाः द्रव्याश्रिताः' ऐसी सनातन व्याख्या है ।

(९)

नवतत्त्व

अनंत जन्म - मरण की परंपरामय एवं दुःखरुप, दुःख- फलक

और दुःखानुबंधी इस संसार में से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने के लिए जैनधर्म में दर्शित मार्ग "सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र" है । 'सम्यग्दर्शन' यह सर्वज्ञ-कथित तत्त्वभूत पदार्थ की श्रद्धारूप है । वीतराग सर्वज्ञ-कथित ही तत्त्व यथार्थ (सच्चे) होते हैं; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान अनंतज्ञान (केवलज्ञान) से समस्त विश्व को अपनी त्रिकाल अवस्था के साथ प्रत्यक्ष देखते हैं, यानी अनंत भूतकाल, वर्तमान काल व अनंत भविष्यकाल की समस्त अवस्थाओं के सहित सभी द्रव्यों का उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन है । इसलिए जैसा प्रत्यक्ष में देखते हैं वैसा ही जगत के समक्ष निरूपण करते हैं, अतः वे ही द्रव्य व वे ही तत्त्व सच्चे मानने लायक है । वीतराग सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित ऐसे तत्त्व 'नौ तत्त्व' है,- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा व मोक्ष ।

इन में जीव-अजीव तत्त्व 'ज्ञेय' तत्त्व हैं । पुण्य, शुभ आश्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष, ये 'उपादेय' तत्त्व है । तथा पाप, अशुभ आश्रव व बन्ध 'हेय' तत्त्व हैं ।

नौ तत्त्व के ज्ञेय, हेय, उपादेय ऐसे तीन विभाग है । और 'ज्ञेय' यानी मात्र जानने योग्य किन्तु राग-द्वेष करने योग्य नहीं । ज्ञेय तत्त्व है जीव-अजीव । 'हेय' तत्त्व है- पाप, अशुभ आश्रव व बन्ध । ये त्याग करने योग्य है, आदरने योग्य नहीं । तथा 'उपादेय' यानी आदर करने योग्य तत्त्व है, पुण्य-संवर, निर्जरा व मोक्ष । अशुभ आश्रव जैसे कि मिथ्यात्व, हिंसादि पापक्रिया, व अप्रशस्त राग-द्वेष

(कषाय), ये हेय है, त्याज्य हैं ।

इन तत्त्वों पर श्रद्धा ऐसी होनी चाहिए कि सर्वज्ञ भगवानने जो तत्त्व जिस स्वरूप का बताया है, उसके प्रति उसके अनुरूप परिणति (मानसिक वलण-वृत्ति) होनी चाहिए ।

शुभ आश्रव यानी धर्मक्रिया, पुण्य, संवर व निर्जरा को उपादेय स्वरूप के बताये, तो उनके प्रति अपनी आंतरिक परिणति उपादेय स्वरूप के अनुरूप यानी हर्ष, आकर्षण व अनुमोदन की होनी जरुरी है । वैसे; पाप, अशुभ आश्रव व बंध ये हेय स्वरूपवालें हैं, तो उनके प्रति उसके अनुरुप भाव भय, अरुचि, अभाव के है; तो उन हेय तत्त्व के प्रति यह भय आदि भाव होने चाहिए ।

इस प्रकार हमें अगर हेय तत्त्व अशुभ आश्रवके प्रति, पापसाधनों के प्रति अरुचि-भय आ जाए, तो एक दिन पाप चले जाएँगे, व धर्म-धर्मसाधनाओं के प्रति दिल में हर्ष-आकर्षण होते रहे तो एक दिन हम धर्म-साधनाओं को अपना लेंगे । ऐसे आगे बढते बढते हम यावत् मोक्ष तक पहुँच सकते है । यह सब तत्त्वश्रद्धा आने पर ही होता है, वास्ते तत्त्वश्रद्धा यानी सम्यग्दर्शन; यह मूल नींव है । उस पर व्रतों की इमारत खडी होती है ।

इस से पता चलेगा कि तत्त्वों का अकेला-शुष्क ज्ञान हो, किन्तु अपने दिल में अनुरूप परिणति न हो, तो वह सम्यग्दर्शन ही नहीं है । इसलिए सम्यग्दर्शन के लिए जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो की

अनुरूप परिणति वाली श्रद्धा जरूरी है ।

नव तत्त्व का सरल बोध

तत्त्व का नाम	तत्त्व की व्याख्या
१. जीव	चैतन्यलक्षण युक्त (ज्ञानादि स्वभाववाला) ।
२. अजीव	चैतन्य रहित, जड-पुद्गल-आकाशादि द्रव्य ।
३. पुण्य	शुभ कर्म, जिनके उदय से मनचाही वस्तु प्राप्त होती है, जैसे शातावेदनीय, यशनामकर्म आदि के उदय से शरीर को शाता एवं यश आदि मिलते हैं।
४. पाप	अशुभ कर्म, जिनके उदय से अनिष्ट पदार्थ मिलते है, जैसे अशाता, अपयश आदि ।
५. आश्रव	जिस से आत्मा में कर्म का आश्रवण-प्रवाह वह आना-आगमन होता है, कर्मबन्ध के कारण है- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, प्रमाद
६. संवर	आते हुए कर्म को रोकने वाला । जैसे कि- सम्यक्त्व, क्षमादि, परिषह, शुभ भावना, व्रत-नियम, सामायिक चारित्रादि ।
७. बन्ध	आत्मा के साथ कर्म का दूध और पानीवत्

	एकमेक (एकीभूत) होना । कर्म की निश्चित होती हुई प्रकृति (स्वभाव), स्थिति (काल), उग्र मंद रस, और प्रदेश (दल-प्रमाण), ये भी बन्ध है-, प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध आदि ।
८. निर्जरा	कर्म का ह्रास करनेवाला बाह्य-आभ्यंतर तप, जैसे कि-उपवास, रसत्याग, कायाक्लेश आदि बाह्य तप है । और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यंतर तप हैं।
९. मोक्ष	जीव की कर्मसम्बन्ध से सर्वथा मुक्त और जीव का प्रगट अनंत ज्ञान, अनंत सुखादि स्वरूप ।

जीव सरोवर में नौ तत्त्व -

नौ तत्त्व समझने के लिए सरोवर का दृष्टांत है । समझों कि 'जीव' एक सरोवर है, इसमें ज्ञान, सुख आदि का निर्मलपानी है । इस में आश्रव की नीक के द्वारा कर्म-कचरा चला आता है, यह है 'अजीव' (जड) द्रव्य । कर्म कचरा जीव के साथ एकमेक होता हैं, यह 'बन्ध' है । अजीव कर्म-कचरे के दो विभाग है, - 'पुण्य' व 'पाप' । कुछ अच्छे वर्ण-गंध-रसादिवालें कर्म है पुण्य। अशुभवालें है पाप । यों जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध; ये छः तत्त्व हुए ।

अब आश्रव नीक के आगे 'संवर' का ढक्कन लगाया जाए तो जीव सरोवर में नया कर्मकचरा आना बन्द हो जाता है । एवं 'निर्जरा' - तप का ताप दिया जाए तो पुराने कर्म सूख कर नष्ट होते चलते है-वह है 'निर्जरा' । इस प्रकार कर्म सर्वथा नष्ट होने से, व नये कर्म आना रुक जाने से, जीव-सरोवर सर्वथा निर्मल हो जाता है, यह है 'मोक्ष' । उपरोक्त छः के साथ ये तीन तत्त्व संवर-निर्जरा-मोक्ष मिलने से ९ तत्त्व होते है ।

इन नौ तत्त्व की श्रद्धा करनेवाला जीव सम्यग्दर्शन पाता है, उस का अर्थ पुद्गल-परावर्त काल के भीतर-भीतर अवश्य मोक्ष होता है ।

(१०)

जीव-द्रव्य :
आत्मद्रव्य स्वतंत्र है इसके प्रमाण

प्रश्न :- क्या जगत् में जड से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र चेतन-आत्मद्रव्य है? इसके अस्तित्व में प्रमाण है?

उत्तर :- हाँ, स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है व इसमें एक नहीं अनेक प्रमाण है,-

(१) ज्ञान, भ्रम, इच्छा, सुख-दुख, राग-द्वेष, क्षमा, नम्रता आदि चैतन्यमय धर्म हैं, जो वर्ण-रसादि से सर्वथा विलक्षण है । इनके आधार के रूप में जड से विलक्षण कोई द्रव्य होना ही चाहिए ।

यही विलक्षण द्रव्य स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है ।

(२) जब तक शरीर में यह स्वतन्त्र आत्मद्रव्य मौजुद है तब तक ही खाए हुए अन्न के रस, रुधिर, मेद आदि केश, नख आदि परिणाम होते हैं, मृतदेह में क्यों सांस नहीं? क्यों वह न तो खा सकता है? और न जीवित देह के समान रस, रुधिरादि का निर्माण कर सकता है? कहना होगा कि इसमें से आत्मद्रव्य निकल गया है इसीलिए ।

(३) आदमी मरने पर इसका देह होते हुए भी कहा जाता हैं कि "इसका 'जीव' चला गया । अब इसमें 'जीव' नहीं है ।" यह 'जीव' ही आत्मद्रव्य है ।

(४) शरीर बढ़ता है, घटता है । किन्तु शरीर के बढ़ने घटने से ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःख, क्षमा, नम्रता आदि किसी के भी घटने बढ़ने का नियम नहीं है । यह इस बात का प्रमाण है कि ज्ञानादि शरीर के धर्म नहीं, परंतु वे आत्मा के धर्म हैं ।

(५) शरीर एक घर के समान है । घर में रसोई, दिवानखाना, मालिक स्वयं घर नहीं है । वह तो घर से पृथक् ही है । उसी प्रकार शरीर को पाँच इन्द्रियाँ हैं परन्तु वे स्वयं आत्मा नहीं हैं । आत्मा के बिना आँख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते, और जिह्वा किसी रस को चख नही सकती । आत्मा ही इन सब को कार्यरत रखती है । शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर इसका

सारा काम ठप हो जाता हैं-, जैसे कि माली के चले जाने पर उद्यान उज्जाड हो जाता है ।

(६) शरीर वस्त्र के समान एक भोग्य पदार्थ हैं । मैला हो जाए तो इसे धो सकते हैं । उसे अधिक उजला भी किया जा सकता है । तेल की मालिश से व पफ-पावडर आदि प्रसाधनों से उसे कोमल, स्निग्ध, सुन्दर और सुशोभित भी किया जा सकता है, किन्तु यह सबकुछ करनेवाला कौन? स्वयं शरीर नही; किन्तु शरीर में विद्यमान आत्मा ही यह सब करती है । मृत शरीर द्वारा यह कुछ नहीं किया जा सकता ।

(७) शरीर की रचना एक गृह के समान हुई है । उसमें ईतनी व्यवस्थित रचनाएँ करनेवाला कौन है? कहना होगा कि पूर्वोपाजित कर्म के साथ परलोक से चली आई आत्मा ही इन्हें करती है । यह करने की शरीर की कोई गुंजाइश नहीं । आत्मा शरीर में से चले जाने पर इस की सब कार्यवाही ठप हो जाती है ।

(८) इन्द्रियों में ज्ञान करने की यानी जानने की स्वतंत्र शक्ति नहीं है; क्यों कि शरीर मृत होने के पश्चात्, इन्द्रियाँ पूर्ववत् रहने पर भी वे कुछ भी नहीं कर सकती । आँख कान आदि परस्पर सर्वथा भिन्न होने के कारण "जो 'मैं' वाद्ययन्त्र देख रहा हूँ वही 'मैं' शब्द सुन रहा हूँ" 'इस प्रकार दृश्यरूप और श्राव्य शब्द को देखने तथा सुननेवाले का एकीकरण भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ नहीं कर

सकती ।' ज्ञान व एकीकरण आदि करनेवाला एक निराला स्वतन्त्र द्रव्य होना चाहिए । वही स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है ।

शरीर कोई एक व्यक्ति नहीं है । यह तो हाथ, पैर, मुख मस्तक, छाती, पेट आदि का समूह है । शरीर ऐसा एक स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं है जो इन सबका एकीकरण करने में समर्थ हो । अतः एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में 'आत्म-द्रव्य' स्वीकार करना होगा । जो सब इन्द्रियाँ व गात्रों में से कभी किसी का, कभी किसी का प्रवर्तन, किसी का परिवर्तन, किसी का निवर्तन कर सके ।

(९) चक्षु या श्रोत्र आदि इन्द्रिय का नाश हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त पूर्व अनुभवों का स्मरण किसको होता है? क्यों कि यह नियम है कि- 'जिसे अनुभव होता है वही स्मरण कर सकता है ।' यदि इन्द्रिय खुद अनुभव करनेवाली होती तो वह तो नष्ट हो चुकी है । तो स्मरण नहीं हो सकता । वास्ते अनुभव के रूप में स्मरण करनेवाली आत्मा को ही मानना होगा, इन्द्रिय को नहीं ।

(१०) नए-नए विचार, भाव-संवेदन, व इच्छाएँ आदि करनेवाली, वाणी बोलनेवाली, इन्द्रियों को प्रवृत्त करनेवाली, एवं इसी प्रकार हाथ, पांव आदि अंगो को हलन-चलन करवाने का प्रयत्न करनेवाली कौन हैं? कहिए आत्मा ही है । आत्मा ही जब चाहती है तब इन्द्रियों, गात्रों, जीभ व मन को प्रवर्तन-निवर्तन-परिवर्तन कराती है । इस प्रकार इन सब का संचालक स्वतन्त्र 'आत्मा' -द्रव्य सिद्ध होता है ।

(११) 'आत्मा नहीं है' इस कथन से ही प्रमाणित होता है कि 'आत्मा है ।' जो वस्तु कहीं विद्यमान हो, उसी का निषेध किया जा सकता है । जड को अजीव कहते हैं । यदि जीव जैसी वस्तु का अस्तित्व ही न हो, तो अजीव क्या है? जगत् में खरोखर ब्राह्मण हैं, जैन हैं, तभी कहा जा सकता हैं कि अमुक आदमी अब्राह्मण हैं, अमुक अजैन है ।

(१२) शरीर को देह, काया, कलेवर भी कहा जाता है । ये सब शरीर के पर्यायार्थक अथवा समानार्थक शब्द हैं । उसी प्रकार जीव के पर्यायशब्द आत्मा, चेतन, ज्ञानवान आदि हैं । भिन्न भिन्न पर्यायशब्द विद्यमान भिन्न-भिन्न पदार्थ के ही होते हैं । इससे भी अलग आत्मद्रव्य सिद्ध होता है ।

(१३) किसी को पूर्वभव का स्मरण होता है । यह समस्त स्मरण उसे अपने अनुभव जैसा ही प्रतीत होता है । यह तभी संभव है जब आत्मा शरीर से अन्न द्रव्य हो, स्वतन्त्र द्रव्य हो और वही आत्मा पूर्व जन्म के शरीर में से इस जन्म में आई हो । पूर्व शरीर द्वारा किए गए अनुभव पूर्व शरीर के नाश के साथ ही यदि नष्ट हो गए तो उनका स्मरण इस जन्म में कैसे संभव है? क्या ऐसा हो सकता है कि किसी वस्तु का अनुभव तो कोई करे और उसका स्मरण (अनुभूत का स्मरण) कोई दूसरा करें? पिता द्वारा विदेश में किए गए अनुभवों का स्मरण यहां पुत्र नहीं कर सकता ।

(१४) प्रिय व्यवसाय के लिए प्रिय भी आराम का त्याग किया जाता है; और प्रिय भी एक धंधे (व्यवसाय) को छोड़कर ज्यादे पैसे के लिए अन्य व्यवसाय प्रिय किया जाता है । इस प्रिय भी धन का व्यय अधिक प्रिय 'पुत्र-परिवार' के लिए किया जाता है । ऐसा भी अवसर प्रस्तुत होता है कि जलते हुए घर में इसी प्रिय भी 'पुत्र-परिवार' का त्याग करके व्यक्ति अपने देह को बाहर निकालता है अर्थात् स्वयं बाहर चला जाता है ।

ऐसा क्यों? कहना होगा कि अधिक प्रिय के निमित्त उस की अपेक्षा कम प्रिय का त्याग कर दिया जाता है । कभी अपमानादि के कारण कोई व्यक्ति आत्मघात करके शरीर का भी त्याग कर देता है । वह यह कार्य किस प्रिय वस्तु के लिए करता हैं? कहना होगा कि अधिक प्रिय अपनी आत्मा के लिए शरीर का त्याग करता है; इस शरीर को अपमानादि के महादुःख न सहन करना पडे इसलिए यह विचार करता है के 'मरने के पश्चात् मुझे (मेरी आत्मा को) न तो इसे देखना पड़ेगा और नहीं जलना होगा ।' सबसे अधिक प्रिय अपने जीव को इस शरीर द्वारा देखने पडते दुःख से मुक्त करने के लिए आत्म-हत्या तक की जाती है । यह सूचित करता है कि आत्मा शरीर से पृथक् है ।

(१५) प्रीतिभोजन में भाग लेनेवाला अधिक मात्रा में परोसनेवाले से कहता है- 'अब और मत डालिए, यदि मैं अधिक खाउंगा तो

मेरा शरीर बिगडेगा ।' यह 'मेरा' कहनेवाली आत्मा अलग द्रव्य सिद्ध होती है । यदि शरीर ही आत्मा होता तो वह इस प्रकार कहता- 'मैं अधिक खाऊं तो मैं बिगडुं;' किन्तु कोई ऐसा कहता नही है । इसी प्रकार डाक्टर को भी यह कहा जाता है : 'डाक्टर साहब! देखिए न; रात में मेरा शरीर बिगड़ गया हैं ।' यहाँ यह नहीं कहा जाता कि 'रात में मैं बिगड गया हूँ ।' इन सब प्रमाण से शरीर से अतिरिक्त आत्मद्रव्य सिद्ध होता है ।

(११)
जीव के भेद

विश्व में जीव दो प्रकार के हैं- १. मुक्त, और २. संसारी । 'मुक्त' अर्थात् आठों प्रकार के कर्मों से रहित । 'संसारी' अर्थात् कर्मबन्ध के कारण भिन्न-भिन्न गतियों, शरीरों पुद्गलों और भावों में संसरण करनेवाले, भटकने वाले ।

संसारी जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के होते हैं । इसमें केवल एक-स्पर्शनेन्द्रियवालें जीव 'स्थावर' कहलातें है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीव 'त्रस' कहलाते हैं ।

इन्द्रियों की गिनती अपने मुख पर दाढ़ी से कान तक के क्रम के अनुसार समझनी चाहिए । एकेन्द्रिय जीवों के केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवों को स्पर्शन और रसना-इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवों को इन

दो के अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों को इन के साथ चक्षुइन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय जीवों को इनके अलावा श्रोत्रेन्द्रिय । इस प्रकार संसारी जीव पांच प्रकार के हैं, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । इन में एकेन्द्रिय स्थावर हैं । कैसा भी जैसे अग्नि का भी उपद्रव हो, ये बेचारे स्थावर जीव स्वेच्छा से न हिल सकते हैं, न चल सकते हैं । निगोद का अर्थ है ऐसा शरीर जिस एक को धारण करके अनन्त जीव रहते हैं । तात्पर्य, अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है । अतः इस जीव को साधारण वनस्पतिकाय अथवा अनन्तकाय जीव कहते है ।

पांचों स्थावर जीवों का कोष्टक

पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	
मिट्टी,खडी	कुआं	अग्नि	वायु	प्रत्येक	साधारण
नमक	नदी	ज्वाला	पवन	वृक्ष	जमीनकंद
खार	तालाब	दीपक	हवा	अनाज	प्याज
पाषाण	झरना	बिजली	बवंडर	बीज	लहसन
लोहा, सोना	वर्षा का	प्रकाश	चक्रवायु	पत्र	अदरक
आदि धातुएँ	पानी	चिनगारी	-	पुष्प	हरी हल्दी
पारा	बर्फ	अग्नि-	-	फल	आलू

मूंगा	कुहरा	कण	-	छाल	शकरकंदी
रत्न	शबनम	-	-		गाजर
स्फटिक	ओस	-	-	-	हरी
अभ्रक	-	-	-	-	भुकड़ी
फटकड़ी	-	-	-	-	मूली
सुरमा	-	-	-	-	लील
-	-	-	-	-	सेवाल

प्रत्येक - एक शरीर में एक जीव

साधारण - एक शरीर में अनन्त जीव

द्वीन्द्रियादि जीवों का कोष्टक

द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
जोक केंचुआ,	कीड़ा,चींटी,ढोरा,	मक्खीं, भमरा,	नरक
पेट की कृमि,	मक्कोडे, खटमल,	मच्छर, डांस,	तिर्यंच
शंख, कोडा,	धुन, दीमक, जूं,	टिट्ठि, बिच्छू,	मनुष्य
लकड़ी के कीड़े	लिख, कानखजूरा	मकड़ी, तीड,	देव
(धुन) आदि	चांचड़ (चीचड़)	कुकुरमाछी	
पोर सूक्ष्म	मंकोडे, उधेही		
(जलजंतु)			

नारक	तिर्यंच			मनुष्य	देव
नीचे नीचे	१	२	३		
रत्नप्रभा	जलचर	स्थलचर	खेचर	कर्म भूमि के	१. भवनपति, २. व्यंतर,
शर्कराप्रभा	मछली	छिपकली, नेवला	चिड़िया	अकर्म भूमि के	३. ज्योतिष, ४. वैमानिक
वालुकाप्रभा	मगर आदि	अजगर, भूजपरि-	कव्वा	अन्तरद्विप के	१. नीचे, अधोलोक में,
पंकप्रभा		सर्प, उरपरिसर्प,	तोता		२. नीचे ३. सूर्य, चंद्रादि
धूम प्रभा		सांप, वन व	आदि पक्षी		मध्यलोक में
तमः प्रभा		शहर के पशु	तथा		४. १२ देवेलोक
महातमः प्रभा			चमग दड़		९ ग्रैवेयके. ५. अनुत्तर
इन ७ पृथ्वी					विमान ये ऊर्ध्वलोक में है ।
में नारकी					
जीव हैं ।					

(चित्र समज)

त्रीन्द्रिय :- १. मकोडा २. खटमल ३. गींगोडा ४. काली जूं ५. शेवत जूं ६. दीमक ७. दोरा ८. वीर बहटी (इन्द्रगोप) ९. कान खूरा १०. घुना ।

चतुरिन्द्रिय :- १. पतंगा २. विच्छू ३. वांदा ४. कुकरमांछी ५. मच्छर ६. घास का कीडा (ग्रास होंपर) ७. मकडी ८. मक्खी ९. टिड्डी (१०) भ्रमर.

पञ्चेन्द्रिय :- १. देव २. मनुष्य ३. नारकी

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जलचर :- १. सील (एक विशेष प्रकार की मछली) २. मकर ३. व्हेल ४. मेंढक ५. कछुआ ६. केंकडा ७. मछली ८. ओक्टोपस (आठ पाव वाला)

तिर्यंच पंचेन्द्रिय खेचर :- चमगीदड २. मोर ३. कौआं ४. चिडिया ५. मुर्गी ६. बगुला-हंस.

तिर्यंच पंचेन्द्रिय स्थलचर :- १. अजगर २. छिपकली ३. सांप ४. गोह ५. घोडा ६. गाय ७. कुत्ता ८. न्योला ९. वानर १०. चूहा ११. गेरिल्ला १२. सिंह

ऊर्ध्व-अधो-मध्यलोक :- १४ राजलोक के ठीक बीच का भाग जिस के ऊपर ७ राजलोक और नीचे ७ मध्यलोक हैं उसे 'समभूतला' कहते हैं । इस के ९०० योजन ऊपर और ९०० योजन नीचे के बीच का भाग 'मध्यलोक' कहलाता है । मध्यलोक के ऊपर ७

राजलोक का भाग 'ऊर्ध्वलोक,' और नीचे के ७ राजलोक का भाग 'अधोलोक' है ।

(१२)
जीव की विशेषताएँ
पर्याप्ति-प्राण-योग आदि

जड की अपेक्षा जीव में क्या क्या विशेषताएँ हैं?

ये ही पर्याप्ति, प्राण, स्थिति (अवगाहना), कायस्थिति, योग, उपयोग, लेश्या आदि जीव में अनेक विशेषताएँ हैं । जड में ऐसी कोई विशेषता नहीं ।

पर्याप्ति अर्थात् शक्तिः- ये छः हैं, - १. आहार, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. श्वासोच्छ्वास, ५. भाषा व ६. मन ।

जब जीव के एक भव की आयु पूर्ण हो जाती है, तब वहाँ के शरीर से छूटकर वह पूर्वबद्ध आयुष्य और गति के अनुसार दूसरे भव को प्राप्त करता है । वहाँ आते ही जीव आहार के पुद्गल को आहार के रूप में ग्रहण करता है । इससे तुरन्त आहार-पर्याप्ति पैदा होती है । देखो, जन्म लेते ही जीव का पहला काम खाने का! आहार की कैसी आदत? जीव पूर्व जन्म से कर्मसमूह स्वरूप कार्मण शरीर के समान एक दूसरा तैजस शरीर भी साथ लाता है । उसके बल पर यहाँ आहार को पचाकर जीव उस से रस-रुधिर आदि

रूप में शरीर का निर्माण करता है । इन में से तेजस्वी पुद्गलों से इन्द्रियाँ बनाता है इससे क्रमशः शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति उत्पन्न होती है । प्रतिक्षण आहार ग्रहण करने का, शरीर बढ़ाने का और इन्द्रियों को बनाकर दृढ करने का काम जारी रहता है । अंतर्मुहूर्त (दो घड़ी के भीतर के समय) में शरीर व इन्द्रियां तैयार हो जाती हैं । तब श्वास के पुद्गल ग्रहण कर श्वसोच्छवास की शक्ति (पर्याप्ति) गृहीत होती है ।

एकेन्द्रिय जीव को इतना ही होता है । अर्थात् इसे चार ही शक्तियाँ यानी चार ही पर्याप्ति होती है ! जबकी द्वीन्द्रिय जीवों को रसना (जीभ) की भी प्राप्ति होती है, अतः वे भाषा के पुद्गल ग्रहण कर उन्हें भाषा रूप में परिणत करने की शक्ति-पर्याप्ति पैदा करते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मन के पुद्गल लेकर उन्हें मनरूप में परिणत करने की शक्ति पैदा करते हैं । यह शक्ति ही पर्याप्ति है । इस प्रकार आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, ये छः शक्तियाँ यानी पर्याप्तियाँ पुद्गल के आधार पर उत्पन्न होती हैं । 'पर्याप्त' जीव अपने पर्याप्तनामकर्म के बल पर अपने योग्य समस्त पर्याप्तियों को उत्पन्न कर लेता है । 'अपर्याप्त' जीव वह है कि जो अपर्याप्त नाम-कर्म के कारण पर्याप्तियों की पूर्ण उत्पत्ति करने के पूर्व ही काल का ग्रास बन जाता है । जो 'पर्याप्त' जीव हैं वे इसके बाद जीवन पर्यंत पर्याप्ति के बल पर आहार का ग्रहण और परिणमन कर शरीरादि का पोषण आदि करते है ।

प्राण जीवनशक्ति :-

जीव में प्राण-शक्ति दस प्रकार की हैं-५ इन्द्रियाँ, ३ योग, (मनोयोग, वचनयोग, काययोग), १ श्वासोच्छ्वास, १ आयुष्य, -इस प्रकार कुल दस प्राण हैं । परंतु प्रत्येक जीव को दस प्राण नहीं होते, जैसे कि एकेन्द्रिय जीव को केवल चार प्राण होते हैं -

१. स्पर्शन इन्द्रिय २. उच्छ्वास

३. काययोग ४. आयुष्य

द्वीन्द्रिय को छः प्राण होते है, उपर के चार उपरान्त१ रसना इन्द्रिय और १ वचनयोग । त्रीन्द्रिय को उन छःके अलावा घ्राणेन्द्रिय बढ जाने से सात; चतुरिन्द्रिय जीव को चक्षु-इन्द्रिय की वृद्धि से आठ प्राण होते हैं । पंचेन्द्रिय जीव को श्रोत्रेन्द्रिय बढने से नौ, और मन बढ़ने से दस प्राण होते हैं । मन रहित पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं, मन सहित पंचेन्द्रिय-संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है ।

पंचेन्द्रिय जीवों में जिनको मन न हो उन्हें असंज्ञी कहते हैं, जिनको मन हो उसे संज्ञी कहते है । इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को दस प्राण होते हैं । 'संज्ञी' अर्थात् संज्ञावाला । 'संज्ञा' अर्थात् पहले और बाद के कार्य- कारणों पर विचार करने की शक्तिवाला मन ।

देव और नारक मनःपर्याप्ति प्राप्त होने पर संज्ञी जीव बनते हैं,

जब कि मनुष्य और तिर्यंच गति में ऐसे भी जीव हैं जिन में मन ही नहीं होता; अतः उनके 'संज्ञी व असंज्ञी' दो भेद बताए गए हैं ।

जीवों के जन्म की अपेक्षा से ८४ लाख योनि हैं । 'योनि' का अर्थ है जीव को उत्पन्न होने का स्थान । समान रूप, रस, गंध, स्पर्शवालें पुद्‌गल हो तो एक योनि कहलाती है । पृथ्वीकायादि जीवों की इस प्रकार की योनियाँ निम्नलिखित है ।?

पृथ्वीकाय जीव की	७ लाख योनि	द्वीन्द्रिय जीव की २ लाख योनि
अप्काय जीव की	७ लाख योनि	त्रीन्द्रिय जीव की २ लाख योनि
तेजस्काय जीव की	७ लाख योनि	चतुरिन्द्रिय जीव की २ लाख योनि
वायुकाय जीव की	७ लाख योनि	देव जीव की ४ लाख योनि
प्रत्येक वनस्पतिकाय		तिर्यंच पंचेन्द्रिय ४ लाख योनि
जीव की	१० लाख योनि	
साधारण जीव की	१४ लाख योनि	नारक ४ लाख योनि
-		मनुष्य जीव की १४ लाख योनि
		योग = ८४ लाख योनि.

स्थितिः- जीवों के आयुष्यकाल को स्थिति कहते हैं । जैसे १०० साल की स्थिति = १०० साल की आयु ।

अवगाहनाः- शरीर के प्रमाण को अवगाहना कहते हैं, -जैसे कि

७ हाथ की अवगाहना = ७ हाथ का शरीर इन दोनों का 'जीवविचार' तथा 'बृहत्-संग्रहणी' शास्त्र में सविस्तर वर्णन किया गया है ।

कायस्थितिः- जीव बार-बार मरकर सतत वैसी की वैसी ही काया में अधिक से अधिक कितनी बार या कितने काल तक पुनः पुनः जन्म ले सकता है, यह कायस्थिति है । अर्थात् वह कायस्थिति कितनी लम्बी होती है? इसका उत्तर है-स्थावर-अनंतकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की होती है । अन्य स्थावरकाय की असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की । द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय की संख्यात वर्ष की । मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच की ७-८ भव । देव और नारक च्यवन कर तत्काल दूसरे भव में देव या नारक नहीं बन सकते । अतः उनकी कायस्थिति एक ही भव की; यानी एक भव के ही आयुष्य काल की होती है । बाद में वे तिर्यंच या मनुष्य भव में ही जाते हैं ।

योग-उपयोग :- जीव को योग व उपयोग होते है । 'योग' का अर्थ है आत्म-वीर्य की सहायता से मन, वचन, काया का किया जाता प्रवर्तन; वीर्य के सहारे मन-वचन-काया में होनेवाली प्रवृत्ति । 'उपयोग' का आशय है 'ज्ञान व दर्शन का स्फुरण' । इन दोनों का विवेचन आगे किया जाएगा ।

लेश्या :- जीव की लेश्याएँ छः होती हैं । 'लेश्या' कर्म या योग के अंतर्गत उस-उस रंग के पुद्गलों की सहायता से उत्पन्न

होनेवाला आत्मा का एक mould- परिणाम है । जैसे चित्रकला में गूंद आदि चिकने पदार्थ रंग की स्थिरता को दृढ बनाते हैं, वैसे लेश्या कर्मबन्ध की अवस्था को दृढ बनाती है, उसे दीर्घ करती है । अशुभ लेश्या के फल में दुःख की अधिकता होती है, और शुभ लेश्या के फल में सुख की अधिकता होती है । लेश्या के छः भेदों को समझने के क्तलिए एक दृष्टान्त है,

छः मनुष्य रास्ता भूल जाने के कारण एक सघन वन में पहुँच गए । वहाँ सब को भूख लगी । उन्हें वहां जामुन का एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ । उसे देखकर उन छः पुरुषों ने अपने अपने विचार व्यक्त किए ।

पहला कहता हैं :- पेड़ को मूल से उखाडकर नीचे गिरादों फिर जामुन खाओ', - इसकी कृष्ण लेश्या ।

दूसरा कहता है :- 'पेड़ नहीं, बड़ी शाखाएं गिराकर जामुन खाओ', - इसकी नील लेश्या ।

तीसरे ने कहा :- 'मात्र जामुनवाली शाखा तोड़ लो, और जामुन खाओ,' -इसकी कापोतलेश्या ।

चौथा कहता है :- 'शाखा नहीं किन्तु जामुन के मात्र गुच्छे तोडकर फ़ल खाओ,' - इसकी तेजोलेश्या ।

पांचवाँ कहता है :- 'खाली जामुन ही तोडकर खाओ' इसकी पद्मलेश्या ।

छट्ठा कहता है :- 'कुछ भी तोडो मत, नीचे गिरे हुए जामुन खाओ' इसकी शुक्ललेश्या ।

(१३)
जीव का मौलिक और विकृत स्वरूप

ऐसा नहीं माना जा सकता कि जीव और जड़ ये समान स्वभाववालें हैं; अन्यथा यदि ऐसा हो तो जीव कभी स्वयं जड़ रूप और जड़ कभी स्वयं जीव स्वरूप क्यों न हो जाए? कहना पडेगा कि दोनों का स्वभाव भिन्न भिन्न है । जीव कभी भी जड़ नहीं बनता, जड़ कभी भी जीव नहीं बन सकता । जीव के मूल स्वरुप में अनंत ज्ञान है । जीव का ज्ञान-स्वभाव ही उसे जड़ द्रव्य से अलग स्वतंत्र द्रव्यरूप में सिद्ध करता है । यदि ज्ञान जीव का मूल में स्वभाव न हो किन्तु आगन्तुक गुण हो, तो किसी भी बाह्य तत्त्व में ऐसी शक्ति नहीं कि इसमें ज्ञान प्रकट करे । अन्यथा जड़ बाह्य तत्त्व जड़ में भी जीव की तरह आग-न्तुक ज्ञानगुण क्यों उत्पन्न न कर सके?

जिस में चैतन्य गुण है वह जीवद्रव्य है । जिस में यह नहीं, वह जड-द्रव्य है । 'मैं जानता हूँ, लेकिन वह शरीर को नहीं किन्तु शरीरान्तर्वर्ती जीव-आत्मा को होता है ।' इसलिए मृत्यु होने पर जीव शरीरमें से निकल जाने के बाद शरीर में कुछ भी ज्ञानादि संवेदन होता नहीं है । चैतन्य ज्ञानादि का स्फुरण है-संवेदन है, इसका

आश्रय स्वतंत्र द्रव्य चाहिए, वह है जीव द्रव्य । अजीव पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण होते है । वे संवेदन रूप में (स्फुरणा रूप में) अनुभूत होते नहीं है । अतः वे जीव के गुण नहीं । ज्ञान, इच्छा, भावना, सुख-दुःख का स्फुरण यानी संवेदन होता है, अतः ये जीव के गुण है । गुण-शक्ति-अवस्था कहीं भी आश्रित होते है, अतः उनका आश्रय 'द्रव्य' है ।

जीव में दो प्रकार के गुण हैः- स्वाभविक गुण, औपाधिक गुण । स्वाभाविक अर्थात् जीवद्रव्य के साथ सहज रूप से जुड़ा हुआ; जैसा कि चैतन्य-ज्ञान-सुख-वीर्यादि । औपाधिक अर्थात् आगन्तुक, यानी कर्म आदि किसी संयोग से नये उत्पन्न होने वाले । जैसे-राग-द्वेष, हास्य-काम-क्रोध आदि ।

जीव का स्वाभाविक गुण ज्ञान है; यह कितना जान सके?-

जैन धर्म में बताया है कि ज्ञान अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जान सकता है; हाँ; मूल स्वभाव 'ज्ञान' पर से सब आवरण नष्ट होने चाहिए । तब जीव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनता है ।

सर्वज्ञता में प्रमाणः- अब जब ज्ञान जीव का स्वभाव ही है, स्वाभाविक गुण है, तब विचारणीय यह है कि क्या यह ज्ञानगुण मर्यादित है? अर्थात् क्या यह मात्र अमुक ही ज्ञेय-हेय आदि विषय को जानता है? अथवा समस्त ज्ञेय-हेय आदि विषयों को जान सकता है? क्या ज्ञान में उतनी जानकारी हो सकती है? हाँ, ज्ञानगुण को

मर्यादित विषयवाला नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि मर्यादा के माप का निश्चय कौन करेगा कि यह जानने में यहाँ तक ही सीमित है किन्तु अधिक या कम नहीं? जैसे दर्पण सम्मुख जो कुछ प्रस्तुत होता है, उन सब का प्रतिबिंब उसमें पड़ता है, वैसे ही विश्व में जो भी ज्ञेय पदार्थ हैं, ज्ञान उन्हें जान सकता है । परन्तु जिस प्रकार छोटे छबड़े के नीचे ढ़के हुए दीपक का प्रकाश छेद में से जितना बाहर आता है, उतना ही वह बाहर के पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार कर्म से आच्छादित जितनी मात्रा में आत्मा का ज्ञान-प्रकाश, कर्मआवरण दूर होने से प्रगट होता है, उतनी मात्रा में 'वह' ज्ञेय वस्तु जान सके । सम्पूर्ण आवरण हट जाने पर सर्वज्ञता यानी समस्त ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान स्पष्टतः प्रगट हो जाता है । इस ज्ञेय में भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल के सकल जीवों के व सर्व जड़ पदार्थो के समस्त भाव ज्ञात हो जाते हैं ।

जीव के मूल स्वरूप में :- (१) अनंतज्ञान है, (२) अनंतदर्शन है, (३) अनंत-सुख है, (४) क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र अर्थात् वीतरागता है, (५) अक्षय-अजर-अमर स्थिति है, (६) अरूपीत्व है, (७) अगुरुलघु स्थिति है (८) अनंत वीर्यादिलब्धि हैं ।

सूर्य के तुल्य जीव में ये आठ मूल तेजस्वी स्वरूप हैं । किन्तु बादल ढके हुए सूर्य के समान अथवा खान में मिट्टी से लिपटे हुए रत्न के समान जीव आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों से ढ़का हुआ

है । अतः उसका स्वरूप प्रगट नहीं हैं । इसके विपरीत एक एक कर्म के कारण इसका विकृत स्वरूप प्रकाश में आता है । उदाहरण के रूप में, - ज्ञानावरण कर्म के कारण जीव में अज्ञान स्वरूप अभिव्यक्त होता है । दर्शनावरण कर्म के फलस्वरूप दर्शनशक्ति क्षीण हो जाने से अन्धता, बधिरता (न सुन सकना) आदि तथा निद्रा प्रगट होती है । आठों कर्मों से भिन्न-भिन्न विकृतियाँ यानी खराबियां उत्पन्न होती है ।

(१-२) 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' का स्वरुप हम ऊपर देख चुके हैं । अब

(३) 'वेदनीय कर्म' की अपेक्षा से विचार करे, वेदनीय कर्म से आत्मा का मूल स्वाधीन और सहज अनंत सुख दबकर कृत्रिम, पराधीन, अस्थिर शाता-अशाता खड़ी होती है ।

(४) 'मोहनीय कर्म' के आवरण से मिथ्यात्व राग-द्वेष, अव्रत, हास्यादि और काम- क्रोधादि प्रगट हुआ करते हैं ।

(५) 'आयुष्य कर्म' के उदय से जन्म, जीवन व मरण का अनुभव करना पड़ता है जीव अरूपी होने पर भी ।

(६) 'नामकर्म' के कारण शरीर की प्राप्ति से जीव रूपी के समान हो गया है । इस में इन्द्रियाँ, गति, यश, अपयश, सौभाग्य, दौर्भाग्य, त्रसपन, स्थावरपन आदि भाव प्रगट होते हैं ।

(७) 'गोत्रकर्म' के कारण उच्च-नीच कुल की प्राप्ति होती है ।

(८) 'अंतराय कर्म' के उदय से दानादि लब्धियाँ दबकर कृपणता, दरिद्रता, पराधीनता व दुर्बलता उपस्थित होती हैं ।'

इस प्रकार जीव का मूलस्वरूप भव्य, शुद्ध, अचिन्त्य और अनुपम होने पर भी कर्म के आवरण के कारण जीव तुच्छ, मलिन और विकृत स्वरूपवाला हो गया है, जैसे कि पहले बताया जा चुका है । यह विकृति किसी नियत समय पर शुरु नहीं हुई है । किन्तु कार्य-कारणभाव के नियमानुसार अनादि अनंतकाल से चली आ रही है । जैसे जैसे पुराने कर्म विपाक में आते रहते है वैसे-वैसे वे इन विकारों को प्रगट करते जाते हैं, और बाद में वे कर्म स्वयं आत्मा से पृथग् हो जाते हैं । किन्तु उसके बाद अन्यान्य कर्म पक-पक कर फल दिखाते जाते हैं । इस प्रकार विकारों की सतत धारा चालू रहती है ।

दूसरी ओर कारण-संयोग (आश्रव) से नए-नए कर्म उत्पन्न भी होते जाते हैं । और वे उत्तरकाल में स्थितिकाल पक्व होने द्वारा विकार प्रदर्शित करते रहते हैं । इस प्रकार संसार-प्रवाह अनादि काल से चालू है । यदि कर्म को आकृष्ट करनेवाले आश्रव बन्द कर दिए जाएँ, और सवंर का आचरण किया जाए, तो नवीन कर्मो का आना रुक जाए ; ओर दूसरी ओर तपसे पुराने कर्मो की निर्जरा होती चले । इसी प्रकार एक दिन जीव समस्त कर्मो से रहित होकर मोक्ष-प्रयाण

कर ले, इसमें कोई शंका नहीं है ।

अपने अनंत ज्ञानादि का मूल स्वरूप एक बार जब पूर्णतः प्रगट हो जाए, तब किसी भी आश्रव के न रहने से कभी भी उसे तनीक भी कर्म लगते नहीं, यानी कर्म-संबन्ध नहीं होता है, और जन्म-मरण-रूप संसार कभी भी उसे छूता नहीं है, व मोक्ष शाश्वत कालीन बना रहता है ।

जीव-सूर्य पर ८ कर्म बादलः-

जीव के ८ गुण	८ कर्म-बादल	कर्म बादल से विकृति
(१) अनंत ज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञान
(२) अनंत दर्शन	दर्शनावरण	अंधता, बधिरता, निद्रा आदि
(३) वीतरागता	मोहनीय	मिथ्यात्व, राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय,काम, हास्यादि नोकषाय.
(४) अनंत वीर्यादि	अन्तराय	कृपणता, पराधीनता, दरिद्रता, दुर्बलता
(५) अनंत सुख	वेदनीय	शाता-अशाता
(६) अजरामरता	आयुष्य	जन्म-मृत्यु

(७) अरुपता	नामकर्म	शरीर, इन्द्रियाँ, वर्णादि चार, त्रस-स्थावरपन, यश, अपयश, सौभाग्य दौर्भाग्यादि ।
(८) अगुरुलघुता	गोत्रकर्म	उच्चकुल-नीचकुल

(२) अजीव तत्त्व

पुद्गल की ८ वर्गणा :-

नवतत्त्व में दूसरा तत्त्व है अजीव तत्त्व । जिसमें चैतन्य यानी ज्ञान का स्वभाव नहीं वह अजीव हैं । पहले छः द्रव्य के प्रकरण में बताया गया है कि अजीव में चार अस्तिकाय द्रव्य व पांचवाँ कालद्रव्य आता है, उनका वर्णन पूर्व में किया गया है । उनमें से पुद्गल द्रव्य का वर्णन अब किया जाता है ।

जीव में मिथ्यात्व, अविरति (व्रत का अभाव), क्रोधादि कषाय, प्रमाद और मन-वचन-काया के योग के कारण जीव के साथ जो कर्म चिपकते हैं वे कर्म जड़-पुद्गल हैं । पुद्गल की मुख्यतः आठ प्रकार की उपयोगी वर्गणाएँ यानी स्कन्ध हैं । उन में से आठवीं कर्मवर्गणा से कर्म बनते हैं । पुद्गल की उन आठ वर्गणाओं का

विवरण इस प्रकार है :-

हम पहले देख चुके हैं कि पृथ्वी (मिट्टी, पाषाण, धातुएँ आदि), जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि पुद्गल उन-उन जीवों के द्वारा ग्रहण किए गए शरीर रूप है । जब जीव मरता है तब शरीर रूपी पुद्गल को छोड़कर जाता है । फलतः वह शरीर-पुद्गल निर्जीव, अचेतन, अचित्त बन जाता है । अब इस पुद्गल को यथास्थित रूप में अथवा टूटे-फूटे या परिवर्तित रूप में यदि जीव आहार कर के ग्रहण कर लेता है तो वह पुनः सजीव सचित्त, सचेतन हो जाता है । फिर जीव इसे छोड़कर जाता है तब यह पुनः निर्जीव या अचित्त बन जाता है । यों अनादि- काल से यह प्रक्रिया चली आ रही है । जीव पुद्गल को आहाररूप में ग्रहण कर शरीर रूपेण धारण करता है, बाद में इसे छोड़कर दूसरे भव में अन्य पुद्गलों से शरीर का निर्माण करता है ।

परमाणु :-

उस पुद्गल-द्रव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश को अणु या परमाणु कहते हैं । जब दो परमाणु इकट्ठे होते हैं तो द्वयणुक- द्विप्रदेशीय स्कंध, तीन मिलें तो त्र्यणुक-त्रिप्रदेशिक स्कंध, चार मिलने पर चतुरणुक-चतुःप्रदेशिक स्कन्ध,... इस प्रकार संख्यात अंश मिले तो संख्यात प्रदेशिक, असंख्यात मिले तो असंख्यात प्रदेशिक, और अनंत मिल तो अनंत प्रदेशिक स्कन्ध बनते हैं । सर्वज्ञ की दृष्टि से दृश्य

नैश्चयिक सूक्ष्म अनंत अणुओं से निर्मित स्कन्ध को व्यवहारिक परमाणु कहते हैं । आधुनिक विज्ञान द्वारा सम्मत है कि अणु में भी विभाजन हो सकता है यह बात उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित करती है । अन्यथा वास्तविक अणु का अर्थ है नितान्त अंतिम माप; फिर उसके भाग नहीं हो सकते । अतः आज के अणु को व्यवहारिक अणु मानना चाहिए । इसके विश्लेषण से प्राप्त इलक्ट्रोन, न्युट्रोन आदि भी व्यवहारिक अणु हैं । यथार्थतः अणु चर्मचक्षुद्वारा अदृश्य ही होता है । अतः आज के अणु को स्कन्ध कहना उचित है ।

आठ वर्गणाएँ :-

व्यावहारिक अणु नहीं किन्तु अनंत परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध ही जीव के उपयोग में आ सकते हैं । ऐसे स्कन्ध आठ प्रकार के हैं:- १. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक ४. तैजस, ५. भाषा, ६. श्वासोच्छ्वास, ७. मानस, ८. कार्मण ।

इन स्कन्धों को वर्गणा कहते हैं । जैसे कि औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा...यावत् कार्मण वर्गणा तक । यद्यपि ये वर्गणाएँ उत्तरोत्तर अधिकाधिक अणुओं के प्रमाणवाली होती हैं, तथापि मशीन से दबाई गई रुई की गांठ के समान आकार (माप) में अधिक से अधिक सूक्ष्म होती है । उदाहरणतः औदारिक वर्गणा (स्कन्ध) की अपेक्षा वैक्रिय वर्गणा (स्कन्ध) सूक्ष्म होते हैं, वैक्रिय० की अपेक्षा आहारक० सूक्ष्म । इस प्रकार यावत् आठवी कार्मण वर्गणा (स्कन्ध)

सबसे सूक्ष्म होती हैं । इसका कारण पुद्‌गल के तथामिलन का तथास्वभाव है । इन वर्गणाओं के कार्य इस प्रकार है,-

८ वर्गणाओं के कार्य :-

(१) एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक के जीवो के और मनुष्यों के शरीर औदारिक वर्गणा से बनते हैं ।

(२) देव और नारकों के शरीर वैक्रिय वर्गणा से बनते हैं-।

(३) लब्धि (विशिष्ट शक्ति) के बल पर चौदह 'पूर्व' नाम के सागर सदृश विशाल शास्त्रों के जानकार 'चौद पूर्वधर- चौदपूर्वी महामुनि किसी प्रसंग पर अपनी शंका के समाधान के लिए अथवा विचरण करते हुए (विहरमान) तीर्थंकर प्रभु की समवसरणादि समृद्धि के दर्शनार्थ, जो सूक्ष्म आहारक-वर्गणाओं में से एक हाथ का शरीर बनाकर केवलज्ञानी के प्रति छोड़ते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं ।'

(४) अनादि काल से जीव के साथ कर्म-समूह (कार्मणशरीर) के समान एक अन्य शरीर भी लिप्त संलग्न रहता है; यह है तैजस शरीर । वह तैजस-वर्गणा द्वारा निर्मित होता है । इसमें से कुछ तैजस पुद्‌गल के स्कन्ध बिखरते है, कुछ नए तैजस पुद्‌गल के स्कंध इसमें भरते हैं, एकत्रित होते हैं, किन्तु अमुक प्रमाण में तो समूह कायम जीव के साथ जुडा हुआ यानी संलग्न रहता है । इस तैजस शरीर के कारण देह में उष्णता रहती है, और इसीसे जीव जिस

आहार को ग्रहण करता है, वह पच जाता है । इस से क्रमशः शरीरवृद्धि होती रहती है ।

(५) भाषावर्गणा के पुद्गलों से 'भाषा' यानी शब्द- रचना का निर्माण होता है । और,

(६) 'श्वासोच्छ्वास वर्गणा' में से जीव श्वासोच्छ्वास रूप पुद्गलों को ग्रहण करता है । ये पुद्गल शब्द से भी सूक्ष्म होते हैं । १४ राजलोक में व्याप्त हैं । इसीलिए वायुविहीन (Vaccum) बिजली के बल्ब में ये होने से अग्निकाय के जीव उन्हें ग्रहण कर ही जीवित रहते हैं । ध्यान रहे कि हवा तो वायुकाय जीवों का शरीर है । वह बडे औदारिक (शरीर) पुद्गल से बना हैं । जब कि श्वासोच्छ्वास के पुद्गल तो इनकी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म हैं । हमारे लिए भोजन और पानी के समान चालु वायु की भी आवश्यकता रहती है, किन्तु ऐसी आवश्यकता सभी जीवो को नहीं होती । जैसे कि मछली और मगर को इसकी जरूरत नहीं ।

(७) जैसे हमारे बोलने के लिए 'भाषा-वर्गणा' के पुद्गल काम आते हैं वैसे विचार करने के लिए 'मनोवर्गणा' के पुद्गल काम आते हैं । नए-नए शब्दों के उच्चारण के समान नए-नए विचारों के लिए भी नये नये मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं । इन्हें मन के रूप में परिणाम कर जब छोडे जाते है तब विचार स्फुरित होते हैं ।

(८) आठवें क्रम में 'कार्मण वर्गणा' के पुद्गल हैं । जीव मिथ्यात्व आदि एक या अनेक आस्रवों का सेवन करता है तब ये कार्मण पुद्गल जीव के साथ चिपककर (बद्ध होकर) कर्मरूप बन जाते हैं ।

१४ राजलोक में इन आठ वर्गणाओं के अतिरिक्त भी दूसरी इनसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्य वर्गणाएँ हैं, जैसे कि 'प्रत्येक वर्गणा', 'बादरवर्गणा' आदि, यावत् अन्त में 'अचित्त महास्कंध वर्गणा' के पुद्गल हैं । परंतु जीव के लिए ये निरुपयोगी है, उपयुक्त नहीं; अर्थात् ये ऐसी नहीं है कि आहारादि के रूप में ली जा सके । उपयोगी वर्गणाएँ मात्र आठ हैं ।

प्रकाश, प्रभा, अंधकार, छाया... ये समस्त औदारिक पुद्गल हैं । इन में परिवर्तन हुआ करता हैं । जैसे कि प्रकाश के पुद्गल अंधकाररूप में परिणत हो जाते हैं । छाया के पुद्गल प्रत्येक स्थूल शरीर में से, उस उस रंग के, बाहर निकलते रहते हैं । दुर्बिन के शीशे के आर पार होकर सफेद कागज़ अथवा कपड़े पर वैसे रंग में पडी हुई छाया के रूप में धूप में दिखाई देते हैं । फोटोग्राफ की प्लेट पर ये छाया पुद्गल ग्रहण कर लिए जाते है और प्लेट पर फोटू (तस्वीर) दृष्टिगोचर होती हैं ।

भूमि में बोये गए सचित्त (सजीव) बीज के जीव, अपने कर्मानुसार उन प्रकार के पुद्गल, आकाश और भूमि में से आहार

के रूप में ग्रहण करते है । इन में से अंकुर, डंडी, पत्र, पुष्प, फल आदि बनते हैं । ये अंकुरमद सभी पदार्थ भूमि, खात, और पानी की अपेक्षा सर्वथा विलक्षण वर्ण, रस, गंध और स्पर्शवाले दिखाई देते हैं । इस से ज्ञात होता है कि स्वतन्त्र जीवद्रव्य और कर्म की शाक्ते के बिना यह व्यवस्थित एवं विलक्षण सृजन संभव नहीं । यहाँ इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि वृक्ष में अनेक मुख्य जीव होने के साथ साथ पत्ते पत्ते आदि में पृथक् पृथक् जीव होते हैं ।

(१५)

(३-४-५) पुण्य - पाप - आश्रव

पुण्य तत्त्वमें शुभकर्म व पापतत्त्व में अशुभकर्म आते है । आगे 'कर्म' प्रकरण में ४२ शुभकर्म (पुण्य) ८२ अशुभकर्म (पाप) इत्यादि बताया जाएगा ।

(५) आश्रव तत्त्व :-

आश्रव अर्थात् कर्मबंध के कारण । जिनके द्वारा आत्मा में कर्मो का आश्रवण-प्रवाह चालु रहता है वे हे आश्रव । आश्रव पांच है - (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) योग और (५) प्रमाद ।

(१) मिथ्यात्व :- यह है मिथ्यारुचि, मिथ्यातत्त्व की मान्यता, मिथ्या देव-गुरु-धर्म की मान्यता-श्रद्धा । वीतराग सर्वज्ञ भगवानने कहे हुए जीव, अजीव आदि तत्त्वो एवं सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग पर श्रद्धा

न होना यह मिथ्यात्व है । एवं सुदेव (वीतराग सर्वज्ञ अरिहंतदेव), सुगुरु (वीतराग-प्रणीत साधु धर्म के पालक), व सुधर्म (वीतराग सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म) पर रुचि न होना यह भी मिथ्यात्व है ।

(१) मिथ्यात्व के पांच प्रकार है :-

(१) अनाभोगिक मिथ्यात्व :- ऐसी मूढता कि जिस में तत्त्व-अतत्त्व का कुछ भी आभोग यानी ज्ञान न हो । यह एकेन्द्रिय जीव से लेकर संमूर्छिम असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक को होता है । (२) आभिग्रहिक मिथ्यात्व :- जिस में मिथ्यातत्त्व पर दुराग्रहभरी श्रद्धा होती है । यह हठाग्रही मानव आदि में होता है । (३) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :- यह सरल प्रज्ञापनीय मंद मिथ्यादृष्टि मानव आदि में होता है, जैसे महावीर भगवान से प्रतिबोधित इन्द्रनाग तापस में । (४) आभिनिवेशिक मिथ्यात्वः- यह सम्यक्त्व से जो भ्रष्ट होता है उसे होता है । जिनशासन के किसी तत्त्व पर दुराग्रह पूर्ण अश्रद्धा से यह होता है; जैसे कि जमालि आदि को । (५) सांशयिक मिथ्यात्व :- यह है-सर्वज्ञ भगवान के वचन पर शंका-कुशंका ।

इन पांचो प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व यह इतना उग्र दोष है कि इस के आवेश के साथ की हुई बडी तपस्या-त्याग एवं पांडित्यादि भी निष्फल जाते हैं ।

(२) अविरति :-

जैनधर्म की विश्व को ओर किसी भी धर्म ने नहीं दी वैसी यह विशिष्ट देन है कि-'अविरति से भी भारी कर्म बन्ध होता है ।' किसी भी पाप के त्याग की 'विरति' न होनी यानी प्रतिज्ञा न होनी यह 'अविरति' है । जैसे कि हम मांसाहार नहीं करते हैं, फिर भी हमें इस के त्याग की प्रतिज्ञा नहीं है, तो इस अविरति से हमें कर्मबन्ध होता रहता है । कैसे ? इस प्रकार कि हम मांस खाते नहीं है फिर भी इसके त्याग की प्रतिज्ञा क्यों नहीं लेते हैं? इसीलिए कि मन में ऐसी अपेक्षा है कि 'भविष्य में शायद मौका आ जाए तो हमें नोन वेज (मांस की) वस्तु लेनी पडे ।' मन में यह पाप की अपेक्षा होनी यह भी पाप है, यह कर्मबन्ध कराती है । जेब में छूरा रखकर फिरनेवाले को पुलिस ने पकडा तो कहता है कि- 'मैं इसे बारह साल से रखता हूँ, पर किसी को मारा नहीं है, किन्तु हमारा दुश्मन बहुत बदमाशी करने आये तो उसको मारने के लिए रखा है ।' यह दिल में शत्रु को मारने की रखी हुई अपेक्षा भी पाप है ।

पाप तीन प्रकार से होता हैः- करण, करावण और अनुमोदन से । वैसे ही पाप की अपेक्षा (छूट यानी अविरति) से भी पाप लगता है । लोग कहते हैं 'करे सो भरे' । जैन धर्म एक कदम आगे बढकर कहता है 'वरे सो भी भरे ।' 'वरे' यानी पाप के साथ नाता-ताल्लुक रखता है वह भी कर्म बांधता है । हाँ, इसके त्याग की प्रतिज्ञा (विरति) करे तब पाप के साथ नाता टूट जाता है ।

अविरति यह अगर बडा पाप न हों तो एक पेड का जीव हिंसा-झूठ-चोरी आदि कोई पापाचरण नहीं करता है, फिर भी वह साधु नहीं है, क्यों? अविरति से । इस अविरति से सम्भव है असंख्य, अनंत वर्षों तक भी एकेन्द्रियपन में जन्म-जीवन-मरण करता रहता है । व्यवहार में भी देखते हैं कि, मकान बन्दकर १२ महिना विदेश गये, फिर भी अलबत्त; वहाँ के वोटर-गटर का उपयोग नहीं किया, तब भी सालभर का वोटर टेक्ष-गटर टेक्ष देना पडता है । अगर पहले से वोटर-गटर का कनेक्शन कटवाया होता तो टेक्ष नहीं लगता । बस, पापत्याग की प्रतिज्ञा (विरति) से पाप के साथ का कनेक्शन कट । कर्मबंध की जिम्मेवारी बन्द हो जाती है ।

प्र०:- अज्ञान लोग कहते हैं-हम मांसाहार आदि पाप नहीं करते हैं, फिर सौगंद की क्या आवश्यकता है?

उ०:- सौगंद से भविष्य के लिए भी पाप की संभावना (अपेक्षा) बंद करनी है ।

(३) कषाय :-

कष = संसार, आय = लाभ । जिससे संसार (भवभ्रमण) का लाभ हो यह कषाय है, जैसे कि, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि । इनसे भारी कर्मबंध हो संसारधारा अस्खलित चलती हैं । राग-द्वेष भी कषाय है । ये प्रत्येक कषाय चार कक्षा के होते हैं । इनका नाम व काम इस प्रकार है,-

कक्षा	नाम	काम
अतिउग्र	अनंतानुबंधी	सम्यक्त्व का घात (व मिथ्यात्व)
उग्र	अप्रत्याख्यानीय	देशविरति का घात (व सम्यक्त्व तक आरोहण)
मध्यम	प्रत्याख्यानीय	सर्वविरति का घात (व देशविरति तक आरोहण)
मंद	संज्वलन	वीतरागता की अटकायत (व सर्वविरति यावत् सूक्ष्म संपराय तक आरोहण)

(i) अनंतानुबंधी कषाय :- अनंतानुबंधी के कषाय (क्रोधादि व राग-द्वेषादि) ऐसे है कि जिन से पाप में हेयबुद्धि नहीं होती । "पाप में (कर्तव्य-भंगमें) क्या बिगडा?" ऐसा भाव होता है । जैसे कि 'परत्थकरणं' (सेवा, परार्थकरण) अगर नहीं किया तो क्या बिगडा?" ऐसी बुद्धि करने में अनंतानुबंधी कषाय लागु होते है । अकर्तव्य पर कर्तव्यता का लेबल (मुद्रा-सिक्का) लगाना तथा कर्तव्य पर अकर्तव्यता का लेबल (मुद्रा-सिक्का) लगाना यह अनंतानुबंधी कषाय से है । जैसे कि संयम-जीवन में 'थोडी सी निंदा कुथली की तो क्या बिगडा?' वैसे सदाचारी के लिए 'परस्त्री पर दृष्टि डाली तो क्या

बिगडा?' यह भाव अनंतानुबंधी कषाय का है । वह सम्यग्दर्शन का नाश करता है ।

(ii) अप्रत्याख्यानीय कषाय :- इस में 'छोटे-बडे पाप अकर्तव्य है' इतना तो समझता है, किन्तु इनमें किसीका भी प्रतिज्ञाबद्ध त्याग (प्रत्याख्यान-पच्चक्खाण) करने का वीर्योल्लास नहीं होता है । अतः देशविरति रुक जाती है ।

(iii) प्रत्याख्यानीय कषाय :- इसमें सर्वथा पापत्याग की प्रतिज्ञा नहीं, किन्तु अंशतः त्याग होता है व अंशतः त्याग (प्रत्याख्यान) पर आवरण रहता है । इससे सर्वविरति-भाव रुकता है ।

(iv) संज्वलन :- इसमें सर्वथा पाप-त्याग का पच्चक्खाण होने पर भी अल्प मात्रा में राग-द्वेषादि कषाय स्फुरायमान रहता है । यह वीतराग भाव को रोकता है । वीतरागभाव में मोक्ष, संयम, ब्रह्मचर्य आदि पर भी राग नहीं एवं संसार -असंयम आदि पर भी राग नहीं, बिलकुल रागमुक्त दशा है ।

(४) योग :-

चौथा आश्रव है योग । आत्मा के पुरुषार्थ से होने वाली मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को 'योग' कहते हैं । वे शुभ भी होते है, एवं अशुभयोग भी होते हैं; जैसे कि (१) सत्य मनोयोग या सत्य वचनयोग यह शुभ योग है । (२) निष्पाप यथार्थ विचार या वचन,

एवं (३) धार्मिक विचार या वचन, जैसे कि 'ज्ञान व क्रिया से मोक्ष होता है ।' यह विचार या वचन, एवं शुभ भावनाएँ, शुभ ध्यान इत्यादि शुभ मन-वचनयोग है ।

किन्तु सपाप या झूठ विचार या वचन को अशुभ मनोयोग या वचनयोग कहते है । उदाहरणार्थ 'मोक्ष के लिए क्रिया व्यर्थ है' - ऐसा विचार या वचन अशुभ मन-वचन योग है ।

एवं धार्मिक, आध्यात्मिक शारीरिक क्रिया यह शुभ काययोग है, व सांसारिक आरंभ-समारंभादि काय-क्रिया यह अशुभ काययोग है । इन्द्रियाँ व गात्रों की प्रवृत्ति काययोग है, वे भी शुभ या अशुभ होते है । जैसे कि प्रभुमूर्ति दर्शन व गुरु दर्शन यह शुभ काययोग है, १८ पापस्थानक की प्रवृत्ति अशुभ योग है ।

देवदर्शन - पूजा - भक्ति महोत्सव एवं तीर्थयात्रा, सामायिक, पौषध, जीवदया आदि की प्रवृत्ति शुभ योग है । इनके विचार-चिंतनादि शुभ मनोयोग है । हिंसादि १८ पाप स्थानक के विचार-वाणी-वर्तनादि ये अशुभ योग है । सामान्य नियम ऐसा है कि अशुभ योग से अशुभ कर्मबन्ध होता है;किन्तु

'जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।

सो तंमि तंमि समये, सुहाऽसुहं बंधए कम्मं ।'

इस सूत्र के अनुसार शुभ-भाव में शुभ कर्मबन्ध, अशुभ भाव में

अशुभ कर्मबंध होता है । अशुभ योग में भी यदि भाव शुभ हो तो शुभ कर्मबन्ध होता है, जैसे कि रसोई करने में श्राविका के दिलमें- 'अरेरे ! कितने असंख्य अग्निकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय जीवों का नाश ! कब मैं इससे मुक्त होऊँ?' ऐसा शुभभाव आए तो शुभ कर्मबंध का लाभ होता है । इस प्रकार जिनपूजा महा शुभयोग है, लेकिन इसमें किसी पर गुस्से के भावमें आ जाए तो अशुभ कर्मबन्ध होता है ।

प्र०- तब तो ऐसा कहो न, कि 'दिल के भाव के अनुसार कर्मबन्ध होता है, वास्ते बाह्य धर्मक्रिया का कोई उपयोग नहीं-कोई जरूर नहीं?'

उ०- ऐसा नहीं है, क्योंकि आंतरिक भाव पर बाह्य क्रिया का बहुत असर पडता है । वास्ते धर्मक्रिया बहुत जरूरी है । अनुभव है कि बार बार प्रभु-दर्शन से शुभ भाव एवं बार बार स्त्री दर्शन से अशुभ भाव होता है ।

(५) प्रमाद :-

आत्मा की स्वरूप-रमणता को चुकानेवाले 'प्रमाद' कहे जाते है । इनमें पांच बडे प्रमाद है, -मद, विषय, कषाय, नींद्रा व विकथा । धन आदि विषयों के बडा लोभी यदि बडी बडी फेक्टरिया चलाता है, और आज की दुनिया में जो महान उद्योगपति कहलाता है, वह बडे विषय व राग- लोभ के कषाय का सेवन करता है, अतः जैन

दृष्टि से वह महाप्रमादी है ।

ये आठ प्रकार के अन्य प्रमाद भी जैन धर्म बताते है-यथा राग, द्वेष, अज्ञान, संशय, भ्रम, विस्मरण, योग-दुष्प्रणिधान (असत्प्रयोग) व धर्म में अनादर-अनुत्साह ।

जैनदृष्टि से सर्वविरतिधर मुनि बनने पर भी जहाँ तक उपरोक्त प्रमाद से युक्त है वहाँ तक वह प्रमत्त मुनि है । प्रमाद हटाने पर वह अप्रमत्त मुनि बनता है ।

नवतत्त्व प्रकरण की दृष्टि से इन्द्रिय, अव्रत, कषाय, योग और प्रमाद, ये पांच आश्रव है । इनका मिथ्यात्वादि पांच आश्रवों में समावेश हो जाता है । अतः तत्त्व की भिन्नता नही है, जैसे कि इन्द्रिय व अव्रत का समावेश अविरति में होता है । वहाँ इन्द्रियों की आसक्ति यही अविरति है, चूंकि बारह प्रकार की अविरति में हिंसादि पांच पाप एवं रात्रि भोजन इन छः की अविरति जो आती है, यह तो इन हिंसादि पापों का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग नहीं होना यह है; किन्तु पांच इन्द्रिय एवं मन ये छः के सम्बन्ध में इनकी आसक्ति यही अविरति है ।

इन्द्रियों को इनके इष्ट विषयो में मस्त होने देना यह क्या है? आत्मा में तुरन्त कर्मबन्ध होना; वास्ते यह आश्रव है । जैसे, श्रोत्रेन्द्रिय शब्द संगीत में खुश हो, चक्षु परस्त्री के दर्शन में लीन बनें, जीभ मधुर रस में खुश हो, नासिका पुष्प, अत्तर आदि की सुगंधी में तुष्ट

हो, स्पर्शनेन्द्रिय मुलायम गद्दी में या स्त्री के स्पर्श में आनंद मानें,...ये सभी आश्रव से आत्मा में पापकर्म आते है । ऐसा, अनिष्ट विषयों में इन्द्रिय घृणा-नफरत करे, वहाँ भी पाप कर्मबंध होता है ।

कषाय-क्रोधादि चार कषाय दिल में लाने से भी कर्मबन्ध होता है । इससे चाहे बाह्य में कुछ नहीं कर सकता हो, फिर भी कर्मबन्ध होता है ।

यहाँ ध्यान में रहे कि हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुर्गंछा और स्त्री-पुं-नपुंसक की काम वासना, ये नौ नो कषायों भी कषाय की तरह आश्रव है । जरा भी हँसना किया कि कर्म का बंध हुआ ही समझो ।

२५ क्रियाओं का भी समावेश यथायोग्य मिथ्यात्वादि पांच आश्रवों में होता है ।

(१६)

६. संवर

संवरण अर्थात् ढकना । आश्रव को ढक कर जो कर्म के आगमन को रोके, आश्रव को रोके, उसे संवर कहते है । इसके मुख्य छः भेद हैं-समिति, गुप्ति, परिषह, यतिधर्म, भावना, चारित्र ।

ये सब वास्तविक संवर तभी होते है, जब इनका सेवन जिनाज्ञा को प्रतिबद्ध रहकर ही किया जाए । अतः इन संवरो में सम्यक्त्व

अनुस्यूत अर्थात् बुना हुआ है जिसके द्वारा मिथ्यात्व-आश्रव रुक जाता है । चारित्र से अविरति, एवं यतिधर्म से इन्द्रिय-आश्रव व कषाय, आश्रव रुद्ध होता है । गुप्ति, भावना और यतिधर्म से कषाय, आश्रव पर रोक लग जाती है । समिति, गुप्ति और परिषह आदि से योग क्रिया और प्रमाद आश्रव रुक जाते हैं । इस प्रकार संवर से आश्रव-निरोध होता है ।

५ समिति-३ गुप्ति :-

पांच समिति-अर्थात् प्रवृत्ति में 'समिति' (सम्+इति) = सम्यग् उपयोग = लक्ष्य । ऐसी लक्ष्य जागृति-सावधानी वाली प्रवृत्ति यह समिति है । इस प्रकार की समिति पांच है ।

१. इर्या समिति :- जाने आने में किसी जीव को पीडा न पहुँचे इस बात का लक्ष्य उपयोग रखते हुए नीचे जुआ (धूंसरा) प्रमाण दृष्टि रखकर चलना ।

२. भाषा समिति :- खुले मुख से न बोलना, और सावद्य (सपाप-हिंसादि प्रेरक-प्रशंसक, या निंदा, विकथादि रुप) एवं अप्रिय, अविचारित, संदिग्ध, जिनाज्ञाविरुद्ध, मिथ्यात्वादि प्रेरक या स्वपर-अहितकारी वचन न बोला जाए ऐसी सावधानी से युक्त वानी का प्रयोग ।

३. एषणासमिति :- मुनिको आहार, वस्त्र, पात्र और वसति

(स्थान) की गवेषणा में कहीं भी आधाकर्मिक (मुनि के लिए बनाया गया) आदि दोष न लगे, इस बात का ध्यान रखकर गवेषणा करनी ।

(गवेषणा = निर्दोष भिक्षा की खोज । ग्रहणेषणा = भिक्षा पात्र में लेते समय सावधानी तथा ग्रासेषणा = भोजन में रागादि दोष से बचने का खयाल)

४. आदान भंड मात्र निक्षेप समिति :- पात्रादि (आदान में-निक्षेप में=) लेने-रखने में जीव का घात न हो इस उद्देश्य से देखने व प्रमार्जन करने की प्रवृत्ति ।

५. पारिष्ठापनिका समिति :- मल-मूत्रादि को निर्जीव, व निर्दोष स्थान पर ही तजने की सावधानी पूर्वक त्याग ।

३. (तीन) गुप्ति-गुप्ति का अर्थ है संगोपन, संयमन । यह दो प्रकार से होता है,-मन, वचन और काया को (१) अशुभ विषय की ओर जाने से रोकना, तथा (२) शुभ में प्रवृत्त कराना । तात्पर्य यह है कि 'गुप्ति' दो प्रकार की, १. अकुशल योग को निरोधरुप और २. कुशल योग के प्रवर्तनरुप है । दूसरे शब्दों में कुविचार, कुवाणी व कुव्यवहार को रोककर शुभ विचार आदि का आचरग 'गुप्ति' है । इस प्रकार गुप्ति यह प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप होने से विशेष महत्त्व की है ।

२२ परिसह :-

बाईस परिषह-परिषह अर्थात् समता से सहनीय (१) रत्नत्रयी की निश्चलता, या (२) आत्मसत्त्व के विकास, तथा (३) कर्म-निर्जरा के लिए एवं (४) असंयम की इच्छा किए बिना, जो समता-समाधि से सहन किए जाए वे है परीषह ।

१. भूख, २. प्यास, ३. शीत, ४. उष्णता, ५. दंश (मच्छर आदि), ६. गड्ढे आदि से युक्त (टेढा-मेढा) ठहरने का स्थान, ७. आक्रोश-अनिष्ट वचन, ८. लात आदि का प्रहार, ९. रोग, १०. दर्भ की शय्या, ११. शरीर पर मल, १२. अल्प व जीर्ण वस्त्र-इन बारह को कर्मक्षय में सहायक समझकर तथा सत्त्व का वर्धक मानकर दीन दुःखी न बनते हुए सहर्ष सहन करना । इसी प्रकार १३. घर-घर भिक्षाचर्या में लज्जा, अभिमान, दीनता का अनुभव न करना, १४. आहारादि की प्राप्ति न होने पर अविकृत चित्त रखकर तपोवृद्धि मानना, १५. यकायक स्त्री का दर्शन हो जाए तो राग-पूर्वक्रीडास्मरण आदि न करते हुए निर्विकार शुद्ध ज्ञानादिमय आत्मस्वरुप का विचार करना, १६. निषद्या- (i) स्मशानादि में कायोत्सर्ग कर निर्भीक रहना, (ii) स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान का सेवन करना, १७. अरति (उद्वेग) होने पर धर्म-धैर्य धारण करना, 'मुझे अनमोल संयम-संपत्ति प्राप्त हुई हैं, तब और क्या कमी है कि मैं अरति करुं?' ऐसा विचार कर अरति रोकनी, १८. आहारादि से सत्कार तथा १९. वंदन-प्रशंसादि से अगवानी प्राप्त होने पर राग, गर्व या आसक्ति नहीं करनी, २०. अच्छी

प्रज्ञा (बुद्धि) पर फुलाना नहीं, (अति हर्षित न होना, घमंड न करना) २१. अज्ञानता पर (पढ़ना न आए तो) दीन न बनकर निराश न होकर कर्मोदय का विचार कर ज्ञानोद्यम जारी रखना, और २२. अश्रद्धा, तत्त्वशंका अथवा अतत्त्वकांक्षा उत्पन्न होने पर "सर्वज्ञ की वाणी में लेश मात्र भीतर फर्क नहीं होता" यह सोचकर उसे रोकनी ।

दश यतिधर्म :- १. क्षमा (समता-सहिष्णुता) २. नम्रता-मृदुता, लघुता, ३. सरलता, ४. निर्लोभता, ५. तप(बाह्य-आभ्यन्तर), ६. संयम (दया-जयणा व इन्द्रिय-निग्रह), ७. सत्य (निरवद्य भाषा), ८. शौच (मानसिक पवित्रता, अचौर्य, धर्म सामग्री पर भी निर्मोहता), ९. अपरिग्रह तथा १०. ब्रह्मचर्य,-इनका पूर्णतः पालन करना ।

१२ भावना :-

बारह भावना बार-बार चिंतन द्वारा जिससे आत्मा को भावित किया जाए वह भावना कहलाती है । इसके बारह प्रकार हैं -

१. अनित्यता - बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी संयोग अनित्य है, विनश्वर हैं, में अविनाशी हूँ, विनाशी से मुझे मोह क्या?

२. अशरण - भूखे शेर के समक्ष हरिण अशरण है वैसे अशातादि कर्मो के उदय व मृत्यु या परलोकगमन के सामने जीव अशरण निराधार-अनाथ है । जीव को अपनी होंशियारी, धन, कुटुम्ब आदि कोई बचानेवाला नहीं । 'ऐसा सोचकर शरणभूत धर्म पर टके रहेना ।'

३. संसार - (i) भवचक्र में यह माता ही पत्नी बन जाती है, यह पत्नी ही माता बन सकती है; शत्रु मित्र हो जाते है, मित्र शत्रु । संसार कैसा कदरूपा? कैसा बेहूदा है? (ii) संसार स्वार्थभरा है, उसमें ममता कैसी? 'संसार जन्म-जरा-मुत्यु, रोग, शोक, वध, बंध, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि से दुःख पूर्ण है ।' इस प्रकार सोचकर वैराग्य में वृद्धि करना ।

४. एकत्व - 'मैं अकेला हुँ, एकाकी जन्मता हूँ-मरता हूँ, एकाकी परलोक जाता हूँ, एकाकी रोगी होता हूँ और एकाकी दुःखी होता हूँ, मेरे ही उपार्जित कर्मों के फल मैं अकेला ही भोगता हूँ, अतः अब सावधान होकर राग-द्वेष से दूर रहते हुए निःसंग - निरासक्त बनूं ।'

५. अन्यत्व - 'अनित्य, ज्ञानगुण-रहित (जड) प्रत्यक्ष शरीर निराला है, जब की नित्य, ज्ञान-संपन्न, अदृश्य, अतीन्द्रिय आत्मरुप मैं सर्वथा निराला हूँ । धन, कुटुम्ब आदि भी मुझसे सर्वथा अलग है । अतः इन सब की ममता छोड दू ।'

६. अशुचित्व - यह देह गंदे पदार्थ से उत्पन्न हुआ, गंदे से पुष्ट हुआ, वर्तमान में भी भीतर में सब कुछ गंदा - अपवित्र है और खान-पान-विलेपन को गंदा करनेवाला है । ऐसे शरीर का मोह छोड़कर संयम, त्याग, तप की साधना कर लूं ।

७. आश्रव - प्रत्येक आश्रव के कैसे-कैसे अनर्थ हैं, इस पर विचार

करना और यह भाव रखना कि 'जैसे नदी घास को खींच जाती है, वैसे इन्द्रिय आदि आश्रव जीव को उन्मार्ग और दुर्गति की ओर घसीटकर ले जाते हैं । इन्द्रियादि आश्रवों के कारण कितने ही कर्मो का बंध होता रहता है, अतः अब इन आश्रवों को छोड, शक्य त्याग करें ।'

८. संवर - एक एक संवर के महालाभो पर विचार कर यह सोचना कि 'अहो ! आश्रव-विरोधी समिति, गुप्ति, यतिधर्मादि संवर कितने सुंदर हैं । इनका सेवन करके कर्म बंधन से बचूं ।'

९. निर्जरा - बारह प्रकार के तपों में एक-एक तप का लाभ सोचकर यह विचार करना कि 'पराधीनता व अनिच्छा से सहन की गयी पीड़ा द्वारा अधिक कर्मो की निर्जरा नहीं होती, किन्तु स्वेच्छा से किये गये बाह्य-आभ्यन्तर तप से बहुत अधिक कर्मो की निर्जरा होती है । मैं ऐसे अलौकिक तप की आराधना करुं ।'

१०. लोक स्वभाव - इस भावना के अन्तर्गत जीवों व पुद्गलों आदि से व्याप्त अधो-मध्य-उर्ध्वलोक के स्वरूप का विचार करना चाहिए । लोक के भाव, उत्पत्ति, स्थिति, नाश संसार, मोक्ष...आदि का चिंतन करके तत्त्व ज्ञान तथा वैराग्य की वृद्धि करें ।

११. बोधिदुर्लभ - इस बात पर विचार करना चाहिए कि, "चारों गति में भटकते भटकते हुए अनेक दुःखों में निमग्न होते हुए तथा अज्ञान आदि से पीड़ित रहते हुए जीव को बोधि अर्थात् जैनधर्म की

प्राप्ति कीतनी अति दुर्लभ हैं । अब जबकी इस बोधि की प्राप्ति मुझे यहाँ हो गयी है,तो लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करुं व धर्म-आराधना खूब कर लूं"

१२. धर्मास्वाख्यात - 'अहो ! सर्वज्ञ अरिहंत भगवान ने कितने सुंदर श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का प्रतिपादन किया है ! अतः इन में खुब उद्यत और स्थिर रहूं ।' ऐसी भावना बार बार करनी चाहिए । इन्हें अनुप्रेक्षा भी कहते हैं । अनित्यता आदि की अनुप्रेक्षा अपनी आत्मा के लिए महान टोनिक है ।

चारित्र :-

सामायिकादि ५ प्रकार के चारित्र है, - इनमें

(१) सामायिक - प्रतिज्ञापूर्वक समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का जीवन पर्यंत त्याग और पंचाचार-पालन द्वारा समभाव में रमण करना ।

(२) छोदोपस्थापनीय - दूषित-सडे हुए अंग के समान दूषति हुए पूर्व चारित्र-पर्याय का छेद करने पूर्वक अहिंसादि महाव्रत में स्थापना, महाव्रतारोपण... ।

(३) परिहार विशुद्धि - नौ साधु से तीन भागों में अठारह मास तक वहन किए जाने वाले 'परिहार' नामक तप में पालित उत्कृष्ट चारित्र ।

(४) सूक्ष्मसंपराय - दसवें गुणस्थानक को अन्तिम समय का

अत्यल्प राग से युक्त चारित्र ।

(५) यथाख्यात - वीतराग महर्षि का चारित्र ।

पंचाचार :-

जैसे साधु-जीवन में अहिंसादि पांच महाव्रतों का पालन यह निवृत्तिमार्ग हैं, वैसे ही ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि के लिए ज्ञानाचार आदि पांच आचारों का पालन यह प्रवृत्ति-मार्ग है । वे हैं-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार व वीर्याचार । इनके आचरण से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तपोगुण तथा सत्त्व की पुष्टि-वृद्धि एवं निर्मलता होती हैं ।

(१) ज्ञानाचार - इसके आठ प्रकार हैं, -

(१) काल - दो संध्या, मध्याह्न और मध्य-रात्रि आदि काल यह अस्वाध्याय का समय यानी 'असज्झाय - काल' को छोड़कर योग्य समय में पढ़ना ।

(२) विनय - गुरु, ज्ञानी, ज्ञान - साधनों का विनय करना ।

(३) बहुमान - गुरु आदि के प्रति हृदय में अत्यन्त सन्मान रखना ।

(४) उपधान - सूत्र विशेष पर अधिकार प्राप्त करने के लिए तदनुकूल तप आदि से युक्त उपधान वहन या योगोद्वहन करना ।

(५) अनिन्हव - ज्ञान-दाता का और ज्ञान का अपलाप न करना ।

(६-७-८) व्यंजन, अर्थ, उभय - यह 'व्यंजन' सूत्रों के सूत्र के अक्षरों, पदों व आलापकों (पैराग्राफों) का उच्चारण करना । पदार्थ, भावार्थ, तात्पर्यार्थ यह 'अर्थ' तथा सूत्र-अर्थ दोनों यथास्थित शुद्ध व स्पष्ट रीति से पढ़ना, याद करना, उनका चिंतन, मनन करना यह 'उभय' ।

(२) दर्शनाचार - इसके भी आठ प्रकार हैं ।

(१) निःशंकित - किसी भी प्रकार की शंका किए बिना जिनोक्त वचन को मानना ।

(२) निःकांक्षित - मिथ्याधर्म, मिथ्या मार्ग, मिथ्यात्त्व-पर्व-उत्सवादि की ओर कदापि लेश भी आकृष्ट न होना ।

(३) निर्विचिकित्सा - धर्म के फल पर लेश मात्र भी संदेह न करते हुए धर्म की साधना करना ।

(४) अमूढदृष्टि - मिथ्यादृष्टि के चमत्कार, पूजा, प्रभावना देखकर मूढ न बनना, और यह विचार करना कि 'जहां मूल सम्यग्दर्शन का ही ठिकाना नहीं, उसका क्या मूल्य?'

(५) उपबृंहणा - सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन आदि गुण एवं उनके दान-शील-तप आदि धर्म की प्रशंसा करना, उसे प्रोत्साहन देना ।

(६) स्थिरीकरण - धर्मकार्य में पीड़ित व्यक्तियों को तन, मन, धन से मदद कर उन्हें धर्म में स्थिर रखना ।

(७) वात्सल्य - साधर्मिक पर माता या बंधु की तरह स्नेहभाव रखना ।

(८) प्रभावना - जैनेतरों में जैन धर्म की प्रशंसा-प्रभावना हो वैसे सुकृत्यों करते रहना ।

(३) चारित्राचार - आठ प्रकार-पांच समिति व तीन गुप्ति का पालन । (४) तपाचार - १२ प्रकार के हैं । ६ बाह्य + ६ अभ्यन्तर तप । इनका वर्णन निर्जरा तत्त्व में किया जायेगा । (५) वीर्याचार - यह ३६ प्रकार का है । ज्ञानादिआचारों के ८+८+८+१२=३६ भेदों के पालन में मन, वचन, काया की शक्ति का रत्ती भर भी गोपन न करते हुए पुरे उत्साह और जोश से उत्तरोत्तर वृद्धि करने के साथ आत्मवीर्य को स्फुरित करना ।

(१७)

(७) बन्धतत्त्व ।

नव तत्त्व में सातवाँ तत्त्व बन्ध है । जैसे कपड़े पर लगा तैल का धब्बा वातावरण में से धूल को खींचता है, और वस्त्र के साथ एकमेक संबंध कर देता है इसी प्रकार आत्मा पर आश्रव...यानी कर्मबन्ध के वे कार्मण वर्गणा को चिपकाते हैं व उन्हें कर्मरूप बनाकर आत्मा

के साथ एकमेक संबंध कर देते हैं । इस का नाम है 'कर्मबन्ध' ।

यह 'बन्ध' चार प्रकार का होता है - (१) प्रकृति-बन्ध, (२) स्थिति-बन्ध, (३) रस-बन्ध, व (४) प्रदेश-बन्ध ।

(१) प्रकृति बन्धः- आत्मा के साथ संबंध पाते ही कर्मो में ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि विभाग हो जाता है । इन कर्मो की जो 'प्रकृति' यानी ज्ञान रोकने का स्वभाव इत्यादि है-यह बन्ध-समय पर ही निश्चित हो जाता है ।

(२) स्थिति बन्धः- वे कर्म कितने काल तक आत्मा पर चिपक रहेंगे, इस काल की मर्यादा यानी कालस्थिति निश्चित होती है ।

(३) रस बन्धः- उसमें कर्मो का तीव्र-मन्द आदि रस निश्चित होता है ।

(४) प्रदेश बन्धः- बन्धे हुए कर्मो में कितने कितने सूक्ष्म प्रदेशसमूह-कर्माणुसमूह आयेंगे यह निश्चित होता हैं ।

इस प्रकार बन्ध-प्रकरण में कर्मो के प्रकृति (स्वभाव) बन्ध, स्थिति (कालमर्यादा) बन्ध, रस (कर्मफल की तीव्रता-मन्दता) बन्ध एवं प्रदेश (जथा) बन्ध, ये चारों एक साथ निश्चित हो जाते हैं ।

बन्धे हुए कर्म अपनी कालस्थिति पकने पर 'उदय' में आते है और जीव को अपने विपाक अपने फल दिखाते हैं । कभी कदाचित् आत्मा के वैसे भाववश कर्म जल्दी भी उदय में लाये जाते हैं, यह

है कर्मो की 'उदीरणा' । कर्म जब तक उदय में नहीं आते तब तक आत्मा की सिलिक में पड़े रहते हैं, यह कर्म की सत्ता कही जाती है । इस प्रकार 'बंध' के विचार में कर्मो के बन्ध-उदय-उदीरणा एवं सत्ता इन चार की विचारणा आती है । अलबत्त कर्मो का संक्रमण-उद्वर्तता-अपवर्तता-उपशमत्ता-निधत्ति-निकाचना आदि भी होते हैं । (यह आगे का विषय है ।)

आत्मा के १ ले गुणस्थानक 'मिथ्यात्व' से लेकर १४ वे 'अयोगी केवली' गुणस्थिति तक के चौदह गुणस्थानक होते हैं । चौथे गुणस्थानक में सम्यक्त्व होता है । बाद में ५ वे में देशविरति, ६ वे में प्रमत्त सर्व विरति, ७ वे में अप्रमत्त, इत्यादि १४ गुणस्थानक होते हैं ।

इस प्रत्येक गुणस्थानक में तद् योग्य कर्मो का प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध एवं प्रदेशबन्ध होते रहते हैं, एवं कर्मो का उदय-उदीरणा-सत्ता और संक्रमकरण, उद्वर्तनाकरण आदि भी होते रहते हैं। इनका परिचय आगे देंगे ।

पहिले यह समझ लें कि मूल में जीव के आठ प्रकार के सहज गुण हैं । अनंत-ज्ञान, अनंत दर्शन आदि और इनको प्रगट होने देने में रोकनेवाले आठ प्रकार के कर्मो हैं । इन से आत्मा में विकृतियाँ खड़ी होती हैं । यह निम्नलिखित कोष्टक पर से ज्ञात हो जाएगा । इस में जीव मानों एक सूर्य है, इसके मूल ८ गुण ये प्रकाश है, उन

पर ८ प्रकार के कर्म ये बादल है, उन से मूल प्रकाश दब कर ८ प्रकार की विकृतियाँ खड़ी होती है; जिन में अवान्तर कई विकृतियाँ होने से वे कई प्रकार की होती हैं ।

जीव-सूर्य

जीव के ८ गुण	८ कर्म-बादल	कर्म बादल से विकृति
(१) अनंत ज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञान
(२) अनंत दर्शन	दर्शनावरण	अंधता, बधिरता, निद्रा आदि
(३) वीतरागता	मोहनीय	मिथ्यात्व, राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, काम, हास्यादि नोकषाय.
(४) अनंत वीर्यादि	अन्तराय	कृपणता, पराधीनता, दरिद्रता, दुर्बलता
(५) अनंत सुख	वेदनीय	शाता-अशाता
(६) अजरामरता	आयुष्य	जन्म-मृत्यु
(७) अरुपता	नामकर्म	शरीर, इन्द्रियाँ, वर्णादि चार, त्रस-स्थावरपन, यश, अपयश, सौभाग्य दौर्भाग्यादि ।
(८) अगुरुलघुता	गोत्रकर्म	उच्चकुल-नीचकुल

इन गुणों में, आत्मा में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, वीतरागता एवं अनंतवीर्यादि लब्धि, - ये चार गुण ज्ञाना- वरणादि चार 'घातीकर्मो' के नाश से प्रगट होते हैं; और वे गुण आत्मा को परमात्मा बनाते है । क्योंकि इन अनंतज्ञानादि चार गुण से आत्मा शुद्ध कही जाती है । यह अवस्था संसार में रहते ही होती है, क्योंकि अभी बाकी के चार आत्मगुण अनंतसुख, अजरअमरता, अरूपीपन एवं अगुरुलघुता, -मोक्ष अवस्था में ही प्रगट होते हैं ।

इसलिए मोक्ष के पहले यानी संसार में इन गुणों को रोकनेवाले वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म व गोत्र कर्म उदय में होने पर भी इन से आत्मा की शुद्धि का यानी आत्मा के परमात्मपन का कोई घात नहीं होता । वास्ते ये वेदनीयादि चार कर्म 'अघाती कर्म' कहे जाते है । अघाती याने परमात्मपन का घात नहीं करनेवाले ।

कर्म दो प्रकार के है- (१) घाती कर्म, व (२) अघाती कर्म ।

'घाती' याने 'आत्म गुण का घात करनेवाला' ऐसा अर्थ बराबर नहीं है, क्यों कि अनंत सुख भी आत्मा का गुण है और वेदनीय कर्म उस का घातक है फिर भी वह वेदनीय कर्म घाती कर्म नहीं कहा जाता है ।

इसलिए घाती का सही अर्थ यह है कि 'घाती' यानी 'परमात्मपन का घातकरनेवाला' । ऐसे घाती कर्म चार है, - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म ।

वैसे अघाती कर्म चार है, - (१) वेदनीय कर्म (२) आयुष्य कर्म (३) नाम कर्म और (४) गोत्र कर्म । वेदनीय कर्म से अलबत्ता अनंतसुख रुक जाता है, व वेदनीय कर्म शाता-अशाता उत्पन्न करता है, फिर भी वह परमात्मपन का बाधक इसलिए नहीं है कि वेदनीय होने पर भी आत्मा परमात्मपन में यानी अनंतज्ञान-दर्शन-चारित्र में रमणता करती रहती है ।

८ करण :-

जैन शास्त्रो कहते हैं कि ऐसा नहीं होता है कि जिन कर्मो का बन्ध होता हैं, वे सब कर्म उसी रूप में उदय में आते हो । दूसरे शब्द में कहें तो उनकी प्रकृति, स्थिति और रस में फर्क भी पड़ जाता है । इसका कारण यह है कि जीव जैसे कर्म का बंधन करता है, वैसे संक्रमण आदि भी करता है । इस बंधन-संक्रमण आदि के करनेवाले आत्म-वीर्ययोग को करण कहते हैं ।

करण आठ है-१. बंधन करण, २. संक्रमण करण, ३. उद्वर्तना करण, ४. अपवर्तना करण, ५. उदीरणा करण, ६. उपशमना करण, ७. निधत्तिकरण और ८. निकाचना करण ।

(१) बन्धनकरण - इसमें उस उस आश्रव के योग से होने वाली कर्मबन्ध की प्रकिया का समावेश हैं ।

(२) संक्रमणकरण - संक्रमण अर्थात् एक प्रकार के कर्म-पुद्गल

के उसी प्रकार के दूसरे रूप के कर्मपुद्‌गल में संक्रमण की प्रक्रिया । संक्रमण का अर्थ है वर्तमान में बद्ध होते हुए कर्म-पुद्‌गल में पूर्व के संगृहीत कुछ सजातीय कर्मो का, मिश्रित होकर, उसी रूप में परिणत हो जाना । उदाहरण के रूप में, इस समय मानों शुभ भाव के कारण शाता-वेदनीय कर्म का बंध हो रहा है । उसमें पूर्व संचित कुछेक अशाता-वेदनीय कर्म मिलकर (मिश्रित होकर) शाता रूप बन जाते हैं । इसे अशाता-वेदनीय का 'संक्रमण' हुआ कहा जाएगा । इसके विपरीत अशुभ भाव के कारण बंधते हुए अशाता-वेदनीय कर्म में कुछेक पूर्व के शाता-वेदनीय कर्मो का संक्रमण होने से वे शाता कर्म अशाता कर्मरूप बन जाते हैं । यह शाता वेदनीय कर्म का 'संक्रमण' हुआ कहा जाएगा ।

(३-४) उद्वर्तनाकरण-अपर्वतनाकरण - कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि होना 'उद्वर्तना' और कमी होना 'अपवर्तना' है । यदि जीव शुभ भाव में प्रवृत्त है तो संग्रह में विद्यमान शुभ-कर्म के रस को बढाता है और अशुभ के रस को घटा देता है । यदि अशुभ भाव में प्रवृत्त है तो इस से विपरीत होता है ।

(५) उपशमनाकरण - विशिष्ट प्रकार के शुभ भावोल्लास से मोहनीय-कर्म के उदय को अन्तर्मुहूर्त तक सर्वथा रोक देना, शांत करना, यह सर्वथा उदयनिरोध से उपशमना हुई कहलाती हैं । उस उदय-निरोध के अन्तर्मुहूर्त काल में जिन जिन कर्म की स्थिति का परिपाक

निश्चित था, वे कर्माणु शुभ अध्यवसाय के बल पर पूर्व-उत्तर स्थिति में चले जाते हैं; अर्थात् उन्हें वैसी स्थिति वाले कर देते हैं । अतः यहाँ 'उदय रुका', उपशमना हुई ऐसा कहा जाता है ।

(६) उदीरणाकरण - इसमें विलम्ब से उदय में आनेवाले कुछ कर्म-पुद्गलों को शुभभाव-बल से शीघ्र उदय की और आकृष्ट किया जाता है, यह 'उदीरणा' है ।

(७) निधत्तिकरण - इसके द्वारा कर्म-पुद्गलों को ऐसा रूप दे दिया जाता हैं कि इन पर उद्वर्तना-अपवर्तना के अतिरिक्त और किसी करण का प्रभाव नहीं पडता है । अर्थात् वे दूसरे करणों के अयोग्य बन जाते हैं । यह 'निधत्ति' है ।

(८) निकाचना करण - इसमें उन कर्म-पुद्गलों को समस्त करणों के अयोग्य बना दिया जाता है । इस निकाचित कर्मो पर संक्रमण आदि कोई भी करण लागू नहीं होता । अतः इन्हें 'निकाचित' कर्म कहते हैं । तीव्र शुभ भाव से पुण्य-कर्म और तीव्र अशुभ भाव से पाप-कर्म निकाचित बन जाते हैं । उन का विपाक भोग लेने से ही जीव उन से छूटकारा पाता है । अनिकाचित कर्मो का तो, विपाक भोगे बिना भी संक्रमण, अपवर्तना आदि द्वारा छूटकारा हो सकता है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि कर्म बद्ध होने के बाद में सभी कर्म उसी अवस्था में ही रहते हों, ऐसी बात नहीं हैं । परन्तु कुछ कर्मो के दूसरे कर्मो में संक्रमण, स्थिति-रस में उद्वर्तनादि, उदीरणा....

आदि परिवर्तन होते हैं ।

यदि आत्मा निरंतर वैराग्य, जिनवचन-रुचि, दया, दानादि, देव-गुरु सेवा, क्षमादि, विरतिभाव... आदि में रहे तो नूतन पुण्य का बंध तो अवश्य होता ही हैं, उपरान्त कुछ पुराने अशुभ कर्मो का शुभ पुण्यकर्म में संक्रमण भी हो जाता है, अशुभ के रस में अपवर्तना होती है, शुभ के रस में उदवर्तना होती है । इत्यादि इत्यादि सत् परिवर्तन होते हैं ।

यह लाभ के अलावा उस समय, अशुभ भाव से जो अशुभ फल उत्पन्न होने वाले थे, उन से बच जाते हैं । अशुभ भाव में इससे विपरीत प्रक्रिया होती है ।

शुभ भाव के ऐसे अनुपम लाभ को दृष्टि सन्मुख रखते हुए हृदय के भावों को सदा पवित्र और उच्च कोटि के शुभ रखना जरूरी है । इसी शुभ भाव की रक्षा के लिए बन सके उतनी शुभ करणी, सद्वाणी और शुभ विचारणा में रहना हितकर है ।

आठ कर्मो की १२० उत्तर प्रकृतियाँ :-

(१) ज्ञानावरण ५:- वस्तु को विशेष रूप से जानना देखना यह ज्ञान है, जैसे कि यह मनुष्य है, पशु नहीं । सामान्य रूप से देखना यह दर्शन है, जैसे कि 'यह भी मनुष्य है ।' ज्ञान ५ है, मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान आदि । इनके ५ आवरण है, - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण,

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यव- ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, - ये पांच आवरण आत्मा के मति आदि ज्ञान को रोकते हैं ।

(i) मतिज्ञान - इन्द्रिय अथवा मन से होने वाला ज्ञान ।

(ii) श्रुतज्ञान - कथन अथवा शास्त्रादि से होनेवाला शब्दानुसारी ज्ञान ।

(iii) अवधिज्ञान - इन्द्रिय अथवा शास्त्रादि की सहायता के बिना आत्मा को साक्षात् होने वाला रूपी पदार्थो का ज्ञान ।

(iv) मनःपर्यवज्ञान - ढाई द्वीप के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के पर्यायों का यानी मन का प्रत्यक्ष ज्ञान । यह ज्ञान केवल अप्रमत्त मुनि को होता है ।

(v) केवलज्ञान - सर्वकाल के पर्याय सहित समस्त द्रव्यों का आत्मा को होने वाला साक्षात् ज्ञान ।

(२) दर्शनावरण ९ :- दर्शनावरण 'दर्शन' अर्थात् सामान्य ज्ञान को रोकनेवाला कर्म । ४ दर्शनावरण कर्म + ५ निद्रादि कर्म = ९ दर्शानावरण कर्म की प्रकृति हैं ।

(i) चक्षु-दर्शनावरण कर्मः- जिस के कारण आंख से देखा नहीं जा सकता

(ii) अचक्षु-दर्शनावरण कर्मः- जिस के कारण चक्षु को छोड़कर

शेष इन्द्रियों तथा मन से दर्शन नहीं होता

(iii) अवधि-दर्शनावरण । (iv) केवल-दर्शनावरण ।

इन के अतिरिक्त पांच निद्रा कर्म हैं ।

(i) नींद्राः- अल्पनिद्रा, जिस से जागना सुख पूर्वक होता है ।

(ii) नींद्रा-नींद्राः- जिस में जीव बडी कठिनाई से जागता है ।

(iii) प्रचलाः- बैठे बैठे या खडे खडे निंद का आना !

(iv) प्रचलाप्रचलाः- चलते हुए निंद का आना ।

(v) स्त्यानर्द्धिः- जिस में जीव जाग्रत अवस्था के समान निंद में दिन के समय सोचा हुआ कठिन भी काम कर के आ जाता है ।

पहले चार दर्शनावरण कर्म दर्शनशक्ति को जागने नहीं देते हैं । पांच नींद्राकर्म जागृत दर्शन को समूल नष्ट कर देते हैं, इसलिए इन पांच को भी दर्शनावरण में गिना गया है ।

(३) मोहनीयकर्म, इसके २६ प्रकार है, - इसके मुख्य दो विभाग है, - (१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय (इसके २५ प्रकार है ।)

१. दर्शन मोहनीय कर्म मिथ्यात्व मोहनीय है । इस के उदय से अतत्त्व पर रुचि तथा सर्वज्ञकथित तत्त्व पर अरुचि होती है । यह कर्म बन्ध के समय तो एक ही प्रकार का होता है, किन्तु बाद

में इसके तीन पुंज हो जाने से उदय के समय यह मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय, व सम्यक्त्व-मोहनीय । ऐसे तीन प्रकार के हो जाता है । सम्यक्त्व मोहनीय में, सम्यक्त्व के कारण तत्त्वश्रद्धा तो ठीक होती है, किन्तु अतिचार लगते हैं । मिश्र-मोहनीय में अतत्त्व पर रुचि-अरुचि नहीं होती है; इसी प्रकार सर्वज्ञ-कथित तत्त्व के प्रति भी श्रद्धा भी नहीं, अश्रद्धा भी नहीं होती यह मिश्रमोहनीय का प्रभाव है ।

२. चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतिः- १६ कषाय मोहनीय+९ नोकषाय मोहनीय । कष=संसार का आय=लाभ जिससे हो, अर्थात् जो संसार को बढाये वह कषाय । वे हैं-क्रोध, मान, माया, लोभ । राग-द्वेष इन में समाविष्ट हैं । क्रोध और मान द्वेष हैं, माया और लोभ राग हैं । क्रोधादि हरेक के अनन्तानुबंधी आदि चार-चार प्रकार हैं । इस प्रकार १६ कषाय हो जाते हैं ।

नोकषायः- कषाय द्वारा प्रेरित अथवा कषाय के प्रेरक हास्यादि ९-हास्य, शोक, रति (इष्ट में प्रसन्नता), अरति (अनिष्ट में उद्वेग, नाराजगी), भय (अपने संकल्प से डर), जुगुप्सा (घृणा), पुरुषवेद (जुकाम होने पर खट्टा खाने की इच्छा के समान जिसके उदय से स्त्री-भोग की अभिलाषा हो), स्त्रीवेद (पुरुष भोग की अभिलाषा हों), नपुंसकवेद (दोनों की अभिलाषा हो) ।

(४) अन्तराय कर्म के पांच प्रकार है :- १. दानान्तराय कर्म, २. लाभान्तराय कर्म, ३. भोगान्तराय कर्म, ४. उपभोगान्तराय कर्म

व ५. वीर्यान्तराय कर्म । ये क्रमशः दान करने में, लाभ होने में, एक बार ही भोग्य अन्नादि के भोग में, बार बार भोग्य वस्त्र, अलंकार आदि के भोग में, और आत्मवीर्य के प्रगट होने में विघ्नकारक हैं।

ये ज्ञानावरणीयादि चार कर्म घाती कर्म हैं, शेष चार अघाती कर्म हैं ।

४ अघाती कर्म में :-

(५) वेदनीय कर्म २ :- (१) शाता वेदनीय (२) अशाता० । जिस के उदय से आरोग्य, विषयोपभोग आदि से सुख का अनुभव हो, वह शाता । इस से विपरीत है अशाता ।

(६) आयुष्य कर्म ४ :- (i) नरकायु, (ii) तिर्यंचायु, (iii) मनुष्यायु और (iv) देवायु । नरकादि भवों में जीव को उस उस समय तक जकडकर रखनेवाला कर्म है 'आयुष्य-कर्म'। वह जीव को अपने-अपने भव में जीवित रखता है ।

(७) गोत्रकर्म २ :- (१) उच्चगोत्र (२) नीचगोत्र । जिसके उदय से ऐश्वर्य, सत्कार, सन्मान आदि के स्थान रूप उत्तम जाति, कुल, प्राप्त हो वह उच्चगोत्र । इससे विपरीत नीचगोत्र ।

(८) नामकर्मः- इसके ६७ भेद हैंः- गति ४ + जाति ५ + शरीर ५ + अंगोपांग ३ + संघयण ६ + संस्थान ६ + वर्णादि ४ + आनुपूर्वी ४ + विहायोगति २ = ३९ पिंड प्रकृति ।

३९ पिंड प्रकृति + ८ प्रत्येक प्रकृति + त्रस दशक + स्थावर दशक, इस प्रकार कुल ६७ । (पिंडप्रकृति अर्थात् उपभेदों के समूहवाली प्रकृति) प्रत्येक प्रकृति = व्यक्तिगत, उपभेद रहित १-१ प्रकृति ।

इन ६७ प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है,

१४ पिंड प्रकृति (कुल ३९ प्रकृति)

(१) ४ गतिनामकर्म :- जिन कर्मो से नरकादि पर्याय प्राप्त होते है उन्हें गतिनामकर्म कहते हैं । गति चार है, -नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति ।

(२) ५ जातिनामकर्मः- एकेन्द्रिय-जाति से लेकर पंचेन्द्रिय-जाति तक की किसी भी जाति को दिलवाने वाला कर्म 'जाति-नामकर्म' कहलाता है । यह न्युनाधिक चैतन्य का व्यवस्थापक है ।

(३) ५ शरीरनामकर्मः- 'शीर्यते इति शरीरम्' - जो शीर्ण-विशीर्ण हो, टूटे-फूटे, वह 'शरीर' कहलाता है । उसे देनेवाला कर्म शरीर-नामकर्म है ।

शरीर पांच हैं :-

(i) औदारिकः- उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से निर्मित, जैसे कि मनुष्यों व तिर्यंचो का शरीर ।

(ii) वैक्रियः- विविध क्रिया (अणु, महान, एक, अनेकादि) करने में समर्थ शरीर । जैसे कि देवो और नारकों का शरीर ।

(iii) आहारकः- श्री तीर्थंकरदेव की ऋद्धि देखने के लिए या संशय-समाधान पूछने के लिए चौदहपूर्वी मुनि जो आहारक पुद्गलों से एक हाथ का शरीर बनाते है उसे आहारक शरीर कहते हैं । उसे यहाँ से विचरते तीर्थंकर भगवान के पास भेजते हैं ।

(iv) तैजसः- आहार का पचन आदि करनेवाला तैजस पुद्गलों का समूह ।

(v) कार्मणः- जीव के साथ बद्ध कर्मो का समूह ।

ऐसे शरीर का निर्माण करनेवाले कर्म 'शरीर नामकर्म' कहलाते हैं ।

(४) ३ अंगोपांग नामकर्मः- जिस के उदय से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर को मस्तक, छाती, पेट, पीठ, दो हाथ, दो पैर- ये आठ 'अंग' व ऊँगलियां आदि 'उपांग', और पर्व-रेखादि 'अंगोपांग' प्राप्त हो, वह 'अंगोपांग' नामकर्म है । एकेन्द्रिय जीव को अंगोपांग नामकर्म का उदय नहीं होता, फलतः उसके शरीर में अंगोपांग नहीं होते हैं । क्या शाखा, पत्रादि ये अंगोपांग नहीं है? नहीं । वे तो पृथक्-पृथक् जीव के शरीर होने के कारण किसी एक जीव के शरीर के अवयव नहीं है । यहाँ 'शरीर नामकर्म' के अन्तर्गत 'बन्धन नामकर्म' और 'संघातन नामकर्म' होते हैं ।

(५) ५ बन्धन नामकर्मः- जिसके उदय से नये ग्रहण किए जा रहे औदारिक पुद्गल उसी शरीर के पुराने पुद्गलो के साथ, एकमेक चिपक जाते हैं । यह चिपकने वाला कर्म बन्धन-नामकर्म है । इस से अंगोपांग बढते हैं किन्तु इनमें जोड नहीं दीखता ।

(६) ५ संघातन नामकर्मः- नियत प्रमाणयुक्त तथा विविध अंगो की व्यवस्था युक्त शरीर की रचना करनेवाले पुद्गल के विविध भागों के नियत स्थान में पांचा (दंताली) के समान व्यवस्था करने वाला कर्म यह संघातन नामकर्म है ।

जैसे कि, आहार में से दांत के, जीभ के, हड्डी के .... इत्यादि पुद्गलों तो बने, परंतु उस उस को ठीक उचित स्थान में व्यवस्थित लगाने का काम संघातन-नामकर्म करता है ।

(७) ६ संघयण (संहनन) नामकर्मः- हड्डीमें दृढ या दुर्बल जोड (संधिस्थान) देनेवाला कर्म । संघयण छः प्रकार के हैं ।

(i) 'वज्रऋषभनाराच संहनन' - हड्डियों के परस्पर संबन्ध, एक दूसरे को आंटी लगाकर और बीच में कील तथा उपर चमडीपट्टे के साथ निर्मित । (नाराच-मर्कट-बंध, इस पर चमडी का पट्टा लिपटा हुआ हो, और बीच में ठीक उपर से नीचे तक आरपार 'वज्र' -हड्डी की कील हो, ऐसा संहनन ।

(ii) 'ऋषभनाराच संहनन' - वज्र को छोडकर उपर्युक्त मर्कटबन्ध

और उपर, पट्टेवाली अस्थियों की सन्धि ।

(iii) 'नाराच संहनन' - केवल दोनो और मर्कटबंध हो ।

(iv) 'अर्धनाराच संहनन' - एक और मर्कटबंध (आंटी) हो और दुसरी ओर कील का बंध हो ।

(v) 'कीलिका संहनन' - अस्थियाँ परस्पर आंटी से जडी हुयी न होकर केवल कील से जोड की गयी हो ।

(vi) छेवट्ट संहनन (छेद स्पृष्ट-सेवार्त संघयण) - दो हड्डियों के अन्तिम भाग एक दूसरे का स्पर्श कर रहे हों, इसे तेल-मालिश आदि आदि सेवा की अपेक्षा रहती है वास्ते वह सेवार्त ।

(८) ६ संस्थान नामकर्मः- शरीर के अवयवों को आकृति देनेवाला कर्म ।

(i) 'समचतुरस्र संस्थान':- (अस्र-कोना) पर्यंकासन में बैठे हुए व्यक्ति को (१) दांये घुटने से बांये कंधे का अन्तर, (२) दांये कन्धे से बांये घुटने का अन्तर, (३) दो घुटनों का अन्तर, तथा (४) दो घुटनों के मध्यभाग से ललाट-मध्यभाग तक का अन्तर-ये चारो समान हों तो उसे 'समचतुरस्र-संस्थान' कहते हैं । अथवा जिसमें चारों ओर के उपर नीचे के अवयव समान हों अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार लक्षण और प्रमाणवाले हों वह 'समचतुरस्र संस्थान' है ।

(ii) 'न्यग्रोध संस्थान':- वटवृक्ष के समान, नाभि से उपर का शरीर

लक्षणयुक्त, और नीचेका लक्षण हीन ।

(iii) 'सादि संस्थान':- न्यग्रोध से विपरीत ।

(iv) 'वामन संस्थान':- मस्तक, गला, हाथ, पैर, ये चारों अवयव लक्षण व प्रमाण वाले हों और छाती, पेट, आदि लक्षण विहीन हों ।

(v) 'कुब्ज संस्थान':- मस्तक, गला आदि कुरूप हो, तथा छाती, पेट आदि सुरूप हो ।

(vi) 'हुंडक संस्थान':- सभी अवयव प्रमाण और लक्षणहीन हों ।

(९ से १२) ४ वर्णादि नामकर्मः- जिन के उदय से वर्ण, रस, गंध, स्पर्श अच्छे या बुरे मिलें । शुभवर्ण-नामकर्म से अच्छे प्राप्त होते हैं और अशुभ से खराब । वर्ण आदि प्रत्येक में अवांतर कई प्रकार है, अतः वे सभी अलग प्रकृति कही जाती हैं ।

(१३) ४ आनुपूर्वी नामकर्मः- नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तथा देवानुपूर्वी । विग्रहगति से (बीच मे मुड़कर) भवान्तर में जाते हुए जीव को टेढ़े मुडते आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार जो वक्रगमन क्रम कराये और खींचकर उस गति में लेजाए उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं ।

(१४) २ विहायोगति नामकर्मः- चाल (चलने की पद्धति) शुभचाल- हंस, हाथी और बैल के समान । अशुभ-ऊंट, गधे के समान चाल ।

८ प्रत्येक प्रकृति :-

(१) अगुरुलघु नामकर्म - इसके उदय से शरीर न अधिक भारी होता है न अधिक हल्का, किन्तु अगुरुलघु प्राप्त होता है ।

(२) उपघात नामकर्म - इस कर्म के उदय से अपने ही अवयव द्वारा अपने को पीडा हो एसे अवयवों की प्राप्ति होती है, जैसे कि छोटी जिह्वा (जिह्वा के पीछे छोटी जिह्वा), चोर दांत (दांत के उपर दांत), छट्ठी ऊंगली ।

(३) पराघात नामकर्म - इस कर्म के उदय से ऐसी मुखमुद्रा की प्राप्ति होती है कि जीव दूसरों पर ओज से प्रभाव डाल देता है ।

(४) श्वासोच्छ्वास नामकर्म - इससे श्वास लेने छोडने की शक्ति प्राप्त होती है ।

(५) आतप नामकर्म - इससे स्वयं शीतल होते हुए भी दूसरों को उष्ण प्रकाश दे ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है; जैसे कि सूर्यविमान के रत्नो का शरीर । (अग्नि में उष्णता उष्ण स्पर्श के उदय से है, और प्रकाश उत्कट लाल वर्ण के उदय से)

(६) उद्योत नामकर्म - जिसके उदय से जीव का शरीर ठंडा, चमकीला प्रकाश दे । जैसे उत्तरवैक्रिय शरीर, चन्द्रादि के रत्न, औषधि आदि ।

(७) निर्माण नामकर्म - जो बढइ के समान अंगोपांग को शरीर

में ठीक स्थान पर बनाता है ।

(८) जिन (तीर्थंकर) नामकर्म - जिसके उदय से धर्मशासन की स्थापना करने का अवसर प्राप्त हो ।

त्रसदशक-स्थावरदशक (कुल २० प्रकृति-)

इसके उदय से जीव को निम्नलिखित की प्राप्त होती है, - (१) त्रस नामकर्म - इससे ऐसा शरीर मिलता है कि जीव धूप आदि में स्वेच्छा पूर्वक खीसक सके, गमनागमन कर सके, व दुःख में कम्प सके । इससे विपरीत स्थावर नामकर्म - जिस के उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो कि जो स्वेच्छा से न हिल सके, न चल सके न कम्प सके ।

(२) बादर-नामकर्म - इससे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसे न आंखे देख सके । सूक्ष्म-नामकर्म - अनेक शरीर अेकत्रित होने पर भी देखा जा सके नहीं ।

(३) पर्याप्त-नामकर्म - जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्ति पूरी करने में समर्थ है । इस से विपरीत अपर्याप्त-नामकर्म ।

(४) प्रत्येक-नामकर्म - इस से हर एक जीव का पृथक् शरीर मिलता है । इससे विपरीत साधारण-नामकर्म - इससे अंनत जीवों का एक शरीर होता है ।

(५) स्थिर-नामकर्म - जिस से मस्तक, अस्थियों, दांत, आदि

स्थिर मिलते है । अस्थिर-नामकर्म - अस्थिर अवयव देनेवाला कर्म।

(६) शुभ नामकर्म - नाभि से पर के शुभ अवयव देनेवाला कर्म। अशुभ नामकर्म - नाभि से नीचे के अशुभ अवयव देनेवाला कर्म । (किसीके मस्तक के स्पर्श से व्यक्ति प्रसन्न होता है, परंतु पाद-स्पर्श से क्रुद्ध होता है । पत्नी के पाद-स्पर्श से पति जो प्रसन्न होता है वह मोह के कारण होता है ।

(७) सौभाग्य नामकर्म - इस के उदय से उपकार करने के बिना भी जीव सबको रुचिकर होता है । दौर्भाग्य - इसके उदय से उपकार करने पर भी लोगों में अरूचिकर होता है । यदि (तीर्थंकर देव अभव्य आदि जीवों को प्रीतिकर प्रतीत नहीं होते है । यह जीव के तीव्र मिथ्यात्व के उदय से)

(८) सुस्वर नामकर्म - जिस कर्म के उदय से सुंदर मधुर स्वर मिले । दुःस्वर० इस से विपरीत ।

(९) आदेय नामकर्म - इसके उदय से युक्ति या आडम्बर से हीन वचन भी दूसरों को ग्राह्य होते हैं । एवं इसके कारण दूसरे लोग देखते ही आदर मान करते हैं । इससे विपरीत, अनादेय नामकर्म के उदय से जीव का युक्तियुक्त भी वचन दूसरों को ग्राह्य यानी आदेय नहीं होता है ।

(१०) यश नामकर्म - जिसके उदय से जीव लोक में कीर्ति

प्रंशसा प्राप्त करता है । अपयश इससे विपरीत ।

४२ पुण्यप्रकृति :-

सामान्यतः पुण्य-कर्म उन्हें कहा जाता है जो शुभ चित्त-परिणाम से बंधेजाते है और शुभरस से भोगे जाते है । फक्त, चार अघाती कर्मो में से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं, घाती में से नहीं । (१.) शाता वेदनीय - (२.से ४) नरकायु को छोडकर तीन आयुष्य, (५.) उच्च गोत्र, (६. से ४२.) नाम-कर्म की शुभ ३७ प्रकृतियाँ । तिर्यंच को भी अपना आयुष्य प्राप्त होने के बाद उसे स्थिर रखना अच्छा लगता है, मरना अच्छा प्रतीत नहीं होता । अतः तिर्यंच आयु को पुण्य के अंतर्गत माना है । किन्तु उसे तिर्यंच गति रुचिकर नहीं होती है, अतः यह पाप प्रकृति है । नारक को मरना अच्छा लगता है । अतः नरकायु पुण्य में समाविष्ट नहीं ।

नामकर्म की ३७ शुभ प्रकृतियों में, - देव व मनुष्य की गति और आनुपूर्वी ४ + १. पंचेन्द्रिय जाति + ५ शरीर + ३ अंगोपांग + २ प्रथम-संघयण और संस्थान + ४ शुभ वर्णादि + १ शुभ विहायोगति + उपघात को छोडकर ७ प्रत्येक प्रकृति + १० त्रस-दशक = ३७ ।

८२ पापप्रकृति :-

पाप-प्रकृति कौन? संक्लिष्ट अध्यवसाय से बध्यमान हो और जिसका अशुभ रस से भोग किया जाता हो, उसे पापप्रकृति कहते

हैं । मूल चारों घाती कर्म पाप-प्रकृति हैं । अतः ५ ज्ञानावरण, + ९ दर्शनावरण, + २६ मोहनीय, + ५ अंतराय = ४५ घाती । इसी प्रकार अघाति कर्मो में से १ अशाता वेदनीय + १ नरकायु + १ नीचगोत्र + ३४ नामकर्म की, ये ३७ । ४५ + ३७ = कुल ८२ पापप्रकृति हैं।

नामकर्म की ३४ अशुभ प्रकृतियों में, -४ नरक-तिर्यंच की गति-आनुपूर्वी + ४ एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय + १० प्रथम संघयण संस्थान छोडकर शेष संघयण-संस्थान + ४ अशुभवर्णादि + १ अशुभ विहायोगति, - इस प्रकार कुल २३ पिंड-प्रकृति + १ उपघात + १० स्थावर दशक = कुल ३४ ।

पुण्य की ४२ + पापकी ८२ = १२४ प्रकृति । इनमें वर्णादि नामकर्म ४ शुभ, व ४ अशुभ इस प्रकार दो बार गिने हैं अतः कुल १२४ में से बाद ४ = १२० कर्म प्रकृतियों का बंध होता हैं । मिथ्यात्व-मोहनीय के साथ मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का बंध नहीं होता, अतः इन्हें बंध में नहीं गिने । किन्तु इनका उदय होता है, क्यों कि बद्ध मिथ्यात्व के ये अर्धशुद्ध-अशुद्ध हुए स्वरूप हैं । अतः इन दोनों का उदय गिनने पर कुल १२२ प्रकृति उदय में मानी गई हैं । इन में ५ शरीरों के साथ ५ बंधन और १५ संघातन जोडने पर २० बढ़ जाती हैं । तथा वर्णादि ४ के स्थान पर ५ वर्ण, ५ रस, २ गंध-८ स्पर्श = इन २० को गिनने से १६ बढती हैं । अतः १२२ में ३६ की वृद्धि से = १५८ कर्मप्रकृति सत्ता में गिनी जाती हैं ।

घाती-अघाती कर्म :-

ज्ञानावरण आठ कर्म में दो विभाग होते हैं । घाती और अघाती । 'घाती' का अर्थ है आत्मा की निर्मलता यानी परमात्मभाव के गुण ज्ञान-दर्शन-वीतरागता का एवं चारित्र और वीर्यादि का घात करनेवाले । 'अघाती' अर्थात् इनका घात न करनेवाले। मोक्ष-सुख आत्मा का गुण है तो भी इसका रोधक वेदनीयकर्म परमात्मापन का घातक नहीं । अतः यह घाती नहीं ।

घाती-चार कर्म घाती हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय । शेष वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चार अघाती कर्म हैं ।

ज्ञानावरण के उदय से ज्ञान का रोध होगा ही, और मिथ्यात्व के उदय से 'सम्यक्त्व' गुण का रोध होगा ही; अतः वे घाती है। परन्तु अघाती जैसे कि अशाता वेदनीय अथवा अपयश नामकर्म का उदय होने पर ज्ञान, सम्यक्त्व, आदि गुणों का रोध होगा ही यह नियम नहीं है। हां, जैसे कि ज्ञान होने पर भी अपयश का उदय होने पर मूढ बन जाने के कारण इसका असर लेकर पढ़ा हुआ भूले तो ज्ञान आच्छादित हो जाए यह संभव है । किन्तु यह अपयश से मूढ नहीं लेकिन मोहनीय कर्म के उदय से मूढ, एवं इसका ज्ञान आच्छादित माना जायेगा । मोहनीय के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए । जैसे कि अशाता, दौर्भाग्य, अपशय आने पर मूढ बनकर हम कषाय करें, तभी क्षमादि गुणों का आवरण होता है ।

यदि हम कषाय-नोकषाय को जाग्रत् न होने दे तो अकेली अशाता या दौर्भाग्य आदि मात्र से क्षमादि आत्मगुण का आवरण होगा ही ऐसा नहीं है। अतः ये घाती नहीं हैं । इसका भाव यह है कि अघाती कर्म का उदय चालू है, अगर नया उदय में आया है फिर भी यदि हम सावधान रहें तो, अशातादि के कारण ज्ञानादि गुण का घात नहीं होता।

परावर्तमान-अपरावर्तमान :-

कुछ कर्म ऐसे हैं जो परस्पर विरूद्ध होने के कारण एक ही साथ यानी एक ही समय बंधे नहीं जाते, या उदय में नहीं आते। वे बारी से बंधते है या बारी से उदय में आते है । अतः इन्हें बंध या उदय में परावर्तमान कहते हैं । जैसे कि शाता वेदनीय के बंध के समय अशाता का उदय नहीं होता । यही स्थिति अशाता के बंध और उदय में है । अतः शाता-अशाता कर्म बंध में भी परावर्तमान, एवं उदय में भी परा० । त्रस दशक के बंध के समय स्थावर दशक का बंध नही होता । जिनका प्रतिपक्षी न हो, वे अपरावर्तमान कहलाते हैं जैसे कि ५ ज्ञानावरण कर्म ।

बंध में परावर्तमान ७० प्रकृति हैं । इन में ५५ नामकर्म की हैं ५५ नामकर्म की (४ वर्णादि तथा २ तैजस्-कार्मण को छोडकर) ३३ पिंड प्रकृति + २ आतप-उद्योत + २० दो दशक, यों ५५ + ७ मोहनीय (रति, अरति, हास्य, शोक तीन वेद) + २ वेदनीय + २ गोत्र + ४ आयुष्य

= ७० । इन जोडों में से बारी से एकेक का ही बंध होता है, दूसरे का नहीं । अतः इन्हें बंध में परावर्तमान मानकर बाकी ५ ज्ञानावरण + ९ दर्शनावरण + ५ अंतराय ये १९ + १९ मोहनीय + १२ नामकर्म = ५० अपरावर्तमान हैं । अर्थात् एक साथ बंध सकते हैं ।

उदय में परावर्तमान ८७ प्रकृतियों में उपर्युक्त ७० में से स्थिरास्थिर, शुभाशुभ कम करके ६६ + ५ निद्रा + १६ कषाय = ८७ जोड़ों में से एक उदय में हो तो दूसरा उदय में नहीं होता, वे बारी बारी एक-एक ही उदय में आते हैं । अतः वे उदय में परावर्तमान कहलाते हैं । शेष ३३ अपरावर्तमान हैं । यहाँ उदय में निद्रादि ५ में से और क्रोधादि ४ में से एक समय एक का ही उदय होता है । क्रोध उदय में हो तब मान नहीं इत्यादि । अतः उन्हें उदय में परावर्तमान कही गयी है । ये ही चार कषाय बंध में अपरावर्तमान होने के कारण क्रोधादि चारों ही एक साथ बंधते हैं। अकेला क्रोध करें या अकेला अभिमान करें फिर भी वहां क्रोध मान आदि चारों कषायमोहनीय कर्म बंधते है ।

कर्मबंध का नियम, पुण्य-पाप की चतुर्भंगी :-

इस के साथ यह समझ लेना चाहिए कि जीव जब शुभभाव में विद्यमान हो, जैसे कि सम्यक्त्व, दया, क्षमा, नम्रता, देवगुरु-भक्ति, व्रत, संयम आदि के शुभ भावों से युक्त हो, तब शुभ कर्म बंधता है । इससे विपरीत हिंसादि पाप, विषयासक्ति, क्रोधादि-कषाय

मिथ्यात्व आदि के अशुभ भावों में हो तब अशुभ कर्म बांधता है । धार्मिक क्रिया और आचारों का यह प्रभाव कि वे जीव को शुभभाव में रखते हैं । अतः वह शुभकर्म को बांधनेवाला होता है । हाँ, यदि वहाँ भी कोई धन की लालसा करता है, या किसी पर क्रोधादि करता है, तो इसे अशुभ भाव हो जाने के कारण वह अशुभ कर्म बांधता है । फिर भी प्रायः ऐसा होता है कि, आरंभ-समारंभ, विषय, परिग्रह आदि सांसारिक क्रियाएँ साधारणतः अशुभ भाव की प्रेरक होती हैं; अतः ये अशुभ क्रियाएँ हैं ।

जब कि धार्मिक क्रियाएँ शुभ भाव की प्रेरक हैं, अतः ये शुभ कर्म की कमाई कराती हैं । शुभ भावों की उत्पत्ति और वृद्धि के लिए शुभ क्रियाएँ ही उपयोगी कही जाए, अशुभ नहीं । अतः जीवन को धार्मिक आचारों से भराभरा रखना चाहिए ।

प्रश्नः शुभ कर्म का भी लोभ किस लिए किया जाए? दर असल यह कर्म भी एक प्रकार की बेडी ही है, चाहे सोने की हो । बेडियों को तो तोडना ही है । बेडी तूटने पर ही तो मोक्ष होता है न? फिर शुभ कर्म (पुण्य) का 'लोभ' क्यों?

उत्तरः शुभकर्म का लोभ इसलिए कि शुभकर्म होने पर ही उत्तम मनुष्यभव, आरोग्य, आर्यदेश, आर्यकुल तथा देव-गुरू-धर्म की सामग्री प्राप्त होती है । इनकी प्राप्ति होने पर ही उच्च धर्माराधना हो सकती है। कुत्ता बेगार है, निवृत्त है, किन्तु वह ज्ञानोपार्जन, धर्मश्रवण,

जिनभक्ति, व्रत, नियम आदि क्यों नहीं कर सकता? कहना होगा कि उसे मनुष्य-भव का पुण्य उदय में नहीं है । धर्म-सामग्री उसके पास नहीं है । अतः कहिए, कर्म को तोडनेवाली धर्माराधना के लिए आवश्यक है सामग्री, और वह सामग्री प्रदान करनेवाले हैं शुभ कर्म। अतःइन शुभ कर्मो की भी आवश्यकता है । देखा गया है कि यहाँ जब आयुष्यका शुभ कर्म समाप्त हो जाता है, तो धर्म-साधना व तज्जनित शुभकर्मोपार्जन रूक जाते है ।

प्रश्नः- देखने में तो यह बात भी आती है कि आरोग्य, घनिकता, यश आदि पुण्य के उदय पर ही मनुष्य अधिक पाप भी करता है।

उत्तरः- यहां पुण्य-पाप की चतुर्भंगी समझने योग्य है :-

(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य - उदय में पुण्य हो और वह ऐसे पुण्यानुबंधन (शुभसंस्कार) वाला हो की जिससे इस पुण्य के उदय के साथ साथ सद्‌बुद्धि और धर्म-साधना मिले कि जिन के होने पर नये पुण्य का बन्ध होता है । ऐसा वर्तमान पुण्योदय पुण्यानुबन्धी पुण्योदय है ।

(२) पापानुबंधी पुण्य - पुण्य उदय में हो अथवा उदय में लाना हो, किन्तु साथ साथ विषय-कषाय, अर्थ-काम, हिंसा-झूठ आदि पापका सेवन कर रहा हो । जिसके कारण जीव नये पाप-कर्म का ढेर बांधता है । अतः वह पुण्य (पुण्योदय) पापानुबन्धी कहा जाता है।

(३) पुण्यानुबन्धी पाप - अशाता वेदनीयादि पाप के उदय में भी जीव धर्म-साधना करने पर पुण्य बांधता है, अतः वह अशातादि पाप पुण्यानुबन्धी हुआ ।

(४) पापानुबन्धी पाप - इससे विपरीत, अशातादि पापोदय होने पर भी हिंसादि पाप करता है तब पापकर्म बांधता है । यह पाप पापानुबन्धी कहा जाता है ।

ऐसे संयोग की उपस्थिति में सावधान रहना है कि कलंकित पुण्य का यानी पापानुबंधी पुण्य (शुभ कर्म) का उपार्जन न किया जाए । इसीलिए यह सावधानी रखनी है कि दानादि समस्त धर्म केवल आत्म-कल्याण, जिनाज्ञा-पालन, कर्म-क्षय, भव-निस्तार और आत्म-शुद्धि के लिए ही किया जाए किन्तु विषयसुख के लिए नहीं।

ध्रुवबन्धी :-

ज्ञानावरणादि कुछ पापकर्म ऐसे है कि यद्यपि महायोगी-अवस्था तक पहुँचने पर भी अर्थात् शुभ भाव में रहने पर भी, उनका बंध होता ही रहता है । अतः उन्हें ध्रुवबंधी कहते हैं । तो प्रश्न होगा कि यहाँ शुभभाव का प्रभाव? उत्तर है- प्रभाव यह है कि शुभभाव की वजह से इन अशुभ कर्मो की स्थिति और रस-बंध बहुत मंद होता हैं । इसके विपरीत, अशुभ भाव की अवस्था में (१) ध्रुवबन्धी शुभ कर्म का बंध तो होता ही हैं, किन्तु उसका रस अतीव मंद बंधा जाता है । (२) ध्रुवबंधी अशुभ कर्म के स्थिति-रस अधिक तीव्र

१बन्धे जाते है ।

ध्रुवबन्धी अर्थात्-जिनके योग्य गुणस्थानक तक सतत बन्ध होता ही रहता है । ये ४७ हैं - ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, ५ अंतराय, १ मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, वर्णादि, तैजस, कार्मण, अगुरु-लघु, निर्माण, व उपघात ये ध्रुवबन्धी है ।

(१८)
निर्जरा-तत्त्व

'निर्जरा' का अर्थ है कर्म का स्वतः या उपाय द्वारा अतीव जर्जरित हो जाना, यानी कालस्थिति पककर आत्मा से अलग हो जाना। जैसे, आम स्वतः या किसी उपाय द्वारा पकता है, वैसे कर्मो का भी होता है । स्वतः झड़ (अलग हो) जाना 'अकाम निर्जरा' कहलाता है, और उपाय द्वारा झड़ जाना यह 'सकाम निर्जरा' कहलाता है ।

आए हुए दुःखको अकामना (अनिच्छा) से भोगते हुए कर्म का झड़ जाना 'अकाम निर्जरा' है । (i) कर्मक्षय की कामना से पीडा को सहर्ष करने द्वारा अथवा (ii) तप द्वारा कर्म का झड़ जाना 'सकाम निर्जरा' है । कर्म की अपनी कालस्थिति परिपक्व होने पर कर्म उदय में आकर मुक्त होना एवं कर्म का झड़ जाना 'स्वतः निर्जरा' है। एवं तप के द्वारा कर्मका नाश करना यह 'उपाय-निर्जरा' है।

प्रस्तुत में तप द्वारा कर्म-निर्जरा का प्रसंग है-अतः तप को ही 'निर्जरा-तत्त्व' के रूप में प्रतिपादित किया गया है । (इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूख, प्यास, मारपीट आदि अपनी अनिच्छा से सहन की जाए, और उसके द्वारा कर्म स्वतः मुक्त हो, नष्ट हो जाए तो वह अकाम-निर्जरा है । जब कि स्वेच्छा से सहिष्णुता द्वारा (i) सत्त्व-विकास, (ii) कर्मक्षय और (iii) आत्मशुद्धि की कामना से जो कर्मोदय यानी कर्मविपाक सहकर कर्मक्षय हो या अनशनादि तप करके जो कर्मक्षय हो वह 'सकाम निर्जरा' कही जाती है ।)

बाह्य-आभ्यन्तर तप :-

तप के दो प्रकार हैं, - बाह्य तप और आभ्यन्तर तप । 'बाह्य' का तात्पर्य है (१) जो बाहर से कष्ट रूप प्रतीत हो, अथवा (२) बाहर लोक में प्रसिद्ध हो । वह तप आभ्यंतर तपका आशय है जो तप आन्तरिक मलिन वृत्तियों को कुचल दे, चूर्ण कर दे, वह तप। जैनदर्शन में प्रतिपादित ये बाह्य-आभ्यन्तर तप छः छः प्रकार के हैं अतः तप के अथवा निर्जरा के कुल १२ भेद होते हैं ।

बाह्य तप के ६ प्रकार :-

अनशन, उनोदरिका, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, काय क्लेश और संलीनता, -ये बाह्य तप है ।

(१) अनशन, - आहार का त्याग अर्थात् उपवास, एकासन, बियासन, चउविहार, तिविहार, अभिग्रह आदि ।

(२) ऊनोदरिका, - तपकी बुद्धि से भोजन के समय दोचार ग्रास कम खाना । इस प्रकार का इतना भी त्याग अगर तप समझ कर किया जाए, तो यह तप है ।

(३) वृत्तिसंक्षेप, - भोजन में खाये जाने वाले द्रव्यों (पदार्थों) का संकोच करना, यानी यह निश्चय कि -'इतने पदार्थ से अधिक, जैसे कि १५ से अधिक, पदार्थ या अमुक अमुक पदार्थ नही खाऊँगा,' यह द्रव्यसंक्षेप है ।

(४) रसत्याग, - खानपान के पदार्थो में रस अथवा स्वाद की तृष्णा कम करने के लिए दूध, दही आदि शक्य विगईओं का त्याग करना ।

(५) कायक्लेश, - केशलोच, उग्रविहार, क्षुधावेदनीयादि २२ परीषह, एवं विविध उपसर्ग आदि के कष्ट सहन करने । (उपसर्ग का अर्थ है देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा किये जानेवाले उपद्रव ।)

(६) संलीनता, - शरीर के गात्र-अवयवो, यानी, इन्द्रियों तथा मनकी असत् प्रवृत्तियो को रोकना और उन को नियंत्रित रखना यह संलीनता है ।

आभ्यंतर तप के ६ प्रकार हैं :-

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान, और कायोत्सर्ग, - ये आभ्यन्तर तप है ।

(१) प्रायश्चित्ततप :- प्रायश्चित्त यानि जो चित्त को प्रायः विशुद्ध करे । यह गुरु के समक्ष पापों का आलोचन (प्रकाशन) कर गुरुदत्त प्रतिक्रमण, तप आदि प्रायश्चित्त के वहन द्वारा होता है । प्रायश्चित्त आलोचन आदि १० प्रकार के हैं ।

(२) विनय-तप :-

(i) बाह्य सेवारूप 'भक्ति', (ii) आंतरिक प्रीतिरूप 'बहुमान,' (iii) प्रशंसा, (iv) निंदाका प्रतिकार, और (v) आशातना का त्याग,

यों सामान्यतः पांच प्रकार से विनय करना भी तप है ।

इस विनय को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मनोयोग, वचन-योग, काययोग व लोकोपचार,-इन सात में लगाने से, विनय के सात भेद होते हैं, - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्रविनय, मनोयोग-विनय, वचनयोग-विनय, काययोग विनय और लोकोपचार-विनय । इस एकेक विनय के अवांतर में, -

(१) ज्ञानविनय के ५ प्रकार हैं, (i) ज्ञान व ज्ञानीकी भक्ति, (ii) बहुमान, (iii) सर्वज्ञकथित पदार्थका सम्यक् श्रद्धान युक्त मनन, (iv) योगउपधान आदि ज्ञानाचारों के पालनपूर्वक ज्ञानग्रहण, और (v) इस का अभ्यास (पुर्नरावर्तन) आदि ।

(२) दर्शन विनय के २ प्रकार है,-जो सम्यद्गर्शन गुण में अधिक हो, उनकी (१) 'सेवा-शुश्रूषा' (२) अनाशातना,-ये दो प्रकार है ।

(१) 'सेवा-शुश्रूषा' विनय के १० प्रकार हैं,-

(१) सत्कार (नमस्कार, शुभागमनपृच्छा, आवकार (जैसे, आइए, पधारिए') (२) अभ्युत्थान-(सत्कारार्थ अपने आसन से उठना) (३) सन्मान-(पूज्य के हाथ में रही वस्तु स्वरं उठां लेना । पूज्यको (४) आसान-परिग्रह (उनके आसान आदिकी संभाल लेनी) (५) आसनदान, (६) वंदना, (७) पास में अंजलिबद्ध (हाथजोंड) खडे रहना, (८) उनके आने पर सामने लेने जाना, (९) बैठै है तो उनकी उपासना करनी, तथा (१०) जाते समय विदा देने हेतु जाना ।

(२) अनाशातना विनय के ४५ प्रकार है-

(१) तीर्थं कर, (२) धर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर (वयस्थविर, श्रुतस्थविर, पर्यायस्थविर), (६) कुल (एक आचार्यकी संतति), (७) गण (अनेक कुल-समूह), (८) संघ (अनेकगण-समूह), (९) सांभोगिक (वे साधु जिनके साथ गोचरी आदि व्यवहार प्रवृत्त है ।), (१०) क्रिया (परलोक है, आत्मा है.... आदि आस्तिकता की प्ररूपणा), तथा (११ से १५) मतिज्ञानादि पांच ज्ञान, -इन १५ की। (अ) आशातना का त्याग, (ब) भक्ति-बहुमान, तथा (क) सद्भूत गुणप्रशंसा द्वारा यशोवृद्धि ।

15 x 3 = 45 अनाशातना-विनय ।

(३) चारित्रविनय के १५ प्रकार है,- पांच प्रकार के चारित्र पर

(i) श्रद्धा रखना, (ii) उसका पालन करना, व (iii) उसकी यथास्थित प्ररूपणा करना, ५ x ३ = १५ ।

(४-५-६) त्रिविध योगविनय के २-२ प्रकार है-

(i) आचार्यादि के प्रति अशुभ वाणी-विचार-वर्ताव (व्यवहार) का त्याग, तथा (ii) शुभवाणी आदि का प्रवर्तन (प्रवृत्ति) ।

(७) लोकोपचार विनय के ७ प्रकार है,- गुरु आदि के प्रति लोकप्रसिद्ध विनय के सात प्रकार है-(i) उनके निकट रहना, (ii) उनकी इच्छा का अनुसरण करना, (iii) उनके उपकार की कृतज्ञता प्रदर्शित करनी, व उपकार का अच्छा ऋण चुकाने का प्रयास करना, (iv) तुच्छ स्वार्थ के निमित्त नहीं किन्तु ज्ञानादिगुण के निमित्त उनकी आहारादि से भक्ति करनी, (v) उनके दुःख, रोग, पीडा, दिक्कत आदि मिटाने का ध्यान रखना, और इनके निवारणार्थ प्रयत्नशील रहना । (vi) उनकी सेवा-भक्ति में उचित देश- काल का ख्याल रखना । (vii) सब बातो में उनको अनुकूल रहना ।

(३) वैयावच्च-तप

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, बीमार, शैक्षक-(नूतन मुनि) साधर्मिक, कुल, गण, संघ,-इन दस की सेवा-शुश्रूषा करनी यह दस प्रकार कीं वैयावच्च है ।

(४) स्वाध्याय-तप

स्वाध्याय यह शास्त्रका व्यवसाय है । इसका आशय है सूत्रार्थ के ज्ञान-ध्यान में रमण करना । यह पांच प्रकार से होता है-(i) 'वाचना' -सूत्र व अर्थ-का अध्ययन-अध्यापन । (ii) 'पृच्छा' -जो समझ में न आए अथवा संदग्धि हो उसे गुरु को पूछना । (iii) परावर्तन-पठित सूत्र और अर्थ की पुनरावृत्ति करना । (iv) 'अनुप्रेक्षा-सूत्रका मानसिक चिंतन अथवा अर्थ का मानसिक चिंतन करना ।' (v) 'धर्मकथा' -तात्त्विक चर्चा-विचारणा, उपदेश ।

(५) ध्यान-तप

ध्यान का अर्थ है एक विषय पर एकाग्र चित्त यानी चिंतन । उसके दो प्रकार है, शुभ ध्यान व अशुभध्यान । अशुभ ध्यान यह तप नहीं हैं, क्यों कि वह कर्मनाशक नहीं किन्तु कर्मसर्जक है, कर्म का आश्रव है । शुभ ध्यान यह तप है, क्यों कि वह अपूर्व कर्म नाशक है । प्रसंगवश अशुभ ध्यान की भी वियारणा करेंगे, जिस से अपनी आत्मा अशुभ ध्यान से बच सके ।

ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है; क्यों कि ध्यान के आधार पर कर्मबंधका अन्तिम जजमेन्ट पडता है । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि एक बार पहले तो दुर्ध्यान में सातवी नरक तक के पाप एकत्रित करने लगे; किन्तु बाद में शुभध्यान के द्वारा अशुभ कर्मो का नाश कर के ऊँची ऊँची सद्‌गति के पुण्य बांधने लगे, अंत में चारों घाती कर्मो का नाश कर सीधे केवलज्ञान तक पहुँच गए । यह सब शुभध्यान के

प्रताप से ।

अशुभ ध्यान के दो प्रकार है- (१) आर्तध्यान, व (२) रौद्रध्यान। इन दोंनों में से प्रत्येक के चार-चार प्रकार है । इन्हें चार पाये भी कहे जाते है ।

आर्तध्यान में (i) इष्ट संयोग कैसे प्राप्त हो, अथवा वियोग प्राप्त इष्टसंयोग कैसे बना रहें, जाए नहीं, यानी इस का न हो, इस बात का एकाग्र चिंतन । (ii) अनिष्ट का वियोग कैसे हो, या अनिष्ट किस प्रकार न आए, इस बात का तन्मय चिन्तन । (iii) वेदनाव्याधि के नाश और उसके उपचार का एकाग्र चिंतन । (iv) निदान अर्थात् पौद्‌गलिक सुखों की चोटभरी आशंसा (उत्कट अभिलाषा) ।

रौद्रध्यान में (i-ii-iii) हिंसानुबन्धी-मृषानुबन्धी-स्तेयानुबन्धी ध्यान होता है अर्थात् हिंसा, झूठ तथा चोरी (अनैतिक लूंट आदि) करने के विषय में क्रूर चिन्तन यह रौद्रध्यान है । (iv) संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान,-यह धन, कीर्ति आदि के रक्षणार्थ क्रूर चिन्तनरूप है ।

शुभ ध्यान के दो प्रकार हैं-(१) धर्मध्यान, और (२) शुक्लध्यान।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय व संस्थानविचय धर्मध्यान है ।

(१) आज्ञा-विचय,- 'जिनाज्ञा, जिन-वचन कितना अद्‌भुत ! कैसा लोकोत्तर ! व कैसा सर्वजीव-हितकर ! कैसा अनंत कल्याणदायी हैं !'

-इत्यादि एकाग्रता से सोचना ।

(२) अपाय-विचय,- 'राग द्वेष-प्रमाद अज्ञान-अविरति-आदि से कितने भयंकर अनर्थ उत्पन्न होते हैं,' -इस पर एकाग्र चिंतन ।

(३) विपाक-विचय,- 'सुख और दुःख ये कैसे कैसे स्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मो के विपाक है !' इस बातका एकाग्र चिंतन ।

(४) संस्थान विचय,- १४ राजलोक का संस्थान (आकृति) एवं उर्ध्व, अधो, मध्य लोक की परिस्थितियाँ पर एकाग्रता से चिंतन करना।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकारः-

(१) पृथक्त्व वितर्क-सविचारः- 'पृथक्त्व' = अन्यान्य पदार्थो पर ध्यान जाने से विविधता । वितर्क = १४ पूर्वगत श्रुत । 'विचार' = विचरण यानी पदार्थ शब्द एवं त्रिविध योग में मन का अन्यान्य संचरण। इन तीनो विशेषताओं वाला ध्यान यह 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' शुक्लध्यान कहलाता है ।

(२) एकत्ववितर्क-अविचारः- 'एकत्व' = मन का अन्यान्य संचरण नहीं किन्तु इसमें एक ही पदार्थ का आलम्बन होता है । 'अविचार' = पूर्वोक्त विचार (यानी विचरण- संचरण) से रहित । ये दोनों ध्यान पूर्वधर महर्षि कर सकते हैं, और वे केवलज्ञान तक ले जाते हैं ।

(३) सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपातिः 'सूक्ष्मक्रिया' अर्थात् मोक्ष जाते हुए

संसार के अंत में बादर (स्थूल) मन-वचन-काययोग का तथा सूक्ष्म वचनयोग-मनोयोग का निरोध करनेवाली, 'अप्रतिपाति' अर्थात् अभी तक नष्ट न हुई, किन्तु चलती हुई सूक्ष्म काययोग की एकाग्र आत्म-प्रक्रिया । (यहां 'ध्यान' चिन्तनरूप नहीं किन्तु योग की एकाग्रतारूप है। केवल-ज्ञानीको सब प्रत्यक्ष होने से ध्यान करने जैसा कुछ रहता नहीं है । वास्ते यहां चिन्त्वन-एकाग्रता नहीं किन्तु योग-एकाग्रता रहती है) यह १३ वें गुणस्थानक के अंत में होता है ।

(४) व्युच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति :- जिसमें 'क्रिया' अर्थात् सूक्ष्म काययोग भी 'व्युच्छिन्न' अर्थात् नष्ट हो गया है। यह १४ वे गुणस्थानक की शैलेशी-अवस्था में होता है। यहाँ पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण जितने काल में सर्वकर्मो का नाश हो जाने से मोक्ष हो जाता है।

(६) कायोत्सर्ग :-

यह उत्कृष्ट आभ्यन्तर तप है । इसमें 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर काय को स्थान (स्थिरता) द्वारा, वाणी को मौन द्वारा, और मन को नियत सम्यग्ध्यान द्वारा स्थिर किया जाता है । कायोत्सर्ग में इस अखंड ध्यान करने के अतिरिक्ति प्रतिज्ञापूर्वक काया और वाणी को भी चेष्टा रहित स्थिर करना पडता है । यह इसकी विशेषता है। इस से अन्तराय आदि सर्व पाप-कर्मो का अपूर्व क्षय होता है । कायोत्सर्ग एक प्रकार का व्युत्सर्ग (त्याग) है ।

व्युत्सर्ग दो प्रकार से होता है - (१) द्रव्य से, (२) भाव से।

(१) द्रव्य से व्युत्सर्ग,-४ प्रकार का है-

(i) गणत्याग, यानी विशिष्टज्ञान, तपस्या आदि के लिए आचार्य की अनुज्ञा से एक समुदाय छोडकर दूसरे गच्छ में जाना; अथवा जिनकल्प आदि साधनार्थ गणको छोड़कर जाना ।

(ii) देहत्याग-कायोत्सर्ग, यानी अंतिम पादपोगमन अनशन अथवा सजीव-निर्जीव का उचित स्थल पर त्याग ।

(iii-iv) उपधि और आहार-त्याग, सदोष अथवा अधिक वस्त्र, पात्र और आहार का विधि के. अनुसार निर्जीव, एकान्त स्थल में त्याग।

(२) भाव व्युत्सर्ग, - यानी कषाय, कर्म और संसार का त्याग।

(१९)

मोक्ष

यहां तक जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आश्रव-संवर-बन्ध-निर्जरा, इन आठ तत्त्वों पर विचार किया । अब नौवे 'मोक्ष' तत्त्व पर विचार करें ।

'मोक्ष' यह जीव की शुद्ध अवस्था है । कर्मसंयुक्त जीव की अशुद्ध अवस्था यह संसार है । जीव का सर्व कर्मो से वियुक्त अनंतज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय शुद्ध स्वरूप यह मोक्ष है ।

अनादि अनंत काल से जीव मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योग-प्रमाद

के कारण कर्मबंधन से बद्ध हो कर इन कर्मो के फलभोग में, संसार की नरक-तिर्यंच...आदि चारों गतियों की ८४ लाख योनिओं में, नये नये शरीर धारण कर भटक रहा है, जन्म-मरण, जन्म-मरण कर रहा है; और उनमें नरकादि गतियों में छेदन-भेदन-जलन, कूटन-पीटन-ताडन, क्षुधा-तृषा-रोग....आदि कई भयंकर त्रास-वेदना-विटंबणाएँ भोग रहा है । वह भी मात्र १००-१०००-लाख बार नहीं किन्तु अनंत अनंत बार भोगता रहा है । इनका अंत, जीव जब संसार से मुक्त हो मोक्ष पाए, तब आता है । इसके लिए धर्म-पुरूषार्थ करना पडे ।

जगत में चार प्रकार का पुरुषार्थ है,-धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इनमें अर्थ-काम संसार के हेतु है, व धर्म मोक्ष का हेतु है । मोक्ष के लिए धर्म-पुरुषार्थ करना चाहिए । तभी संसार का अन्त आ सकता है ।

प्र०-संसार तो अनादि अनंतकाल से चला आ रहा है, तो क्या इसका अन्त आ सकता है?

उ०-हां, जिन कारणों से संसार है उनके प्रतिपक्ष उपायों से संसार का अन्त आ सकता है । जैसे कि, अच्छे अच्छे रसदार कुपथ्यों का खानपान बहुत वार व प्रमाणातीत करते रहने से भयंकर व्याधियां आई हो, तब ऐसे खानपान के प्रतिपक्ष कई उपवास करने से व्याधियों का अन्त आ सकता है । इस प्रकार यहां भी संसार कर्म-संयोग से है, और कर्म-संयोग मिथ्यात्व-अविरति- कषाय-योग-प्रमाद के कारणों से होता रहता है । अब इन कारणों के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन-

ज्ञान-चारित्र-तपस्वरुप उपायों की साधना की जाए तो नये कर्मबन्ध रुक जाने से व पुराणे कर्मो का निर्मूल ध्वंस हो जाने से संसार का अन्त व मोक्ष की सिद्धि होने का सुसंभवित है ।

खान में सुवर्ण का भले जन्म से मिट्टी के साथ एक- मेक संबंध है, किन्तु संशोधनविधि से इस को बिलकुल मिट्टीवियुक्त एवं शुद्ध सो टच का सुवर्ण स्वरूप दिया जा सकता है । ऐसे ही कर्मसंयुक्त आत्मा को भी आत्म-शोधक विधि से सर्वथा कर्मवियुक्त आत्मा को भी आत्म-सुखादिमय आत्मस्वरूप दिया जा सके यह युक्तियुक्त है ।

और आत्मा का कर्मवियुक्त शुद्ध स्वरूप प्रगट करने लायक भी है, क्यों कि कर्मसंयोग से ही आत्मा को जन्म व शरीराधीन अनेक विटंबनाएँ हैं । कई पराधीनता, अपमान अपकीर्ति है, कई रोग, अकस्मात्, आपत्तियां आती हैं । वार्धक्य, अशक्ति, कष्ट.... आदि कई दुःख आते हैं । मोक्ष हो जाने से अब वहां कोई कर्म ही नहीं, एवं शरीर ही नहीं,तो किसी प्रकारका दुःख रहता नहीं । एवं समस्त कर्मावरण हट जाने से आत्मा को अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख में शाश्वत काल के लिए रमणता मिलती हैं ।

प्र०-मोक्ष में 'दुःख नहि' इससे मोक्ष का कैसे आकर्षण हो? वैसे तो स्वर्ग में भी दुःख नहीं, फिर भी विरागी को स्वर्ग का कोई आकर्षण होता नहीं । अगर कहें मोक्ष के अनंत सुख का आकर्षण

हैं न? तो प्रश्न हैं वहां सुख ही कैसा?

उ०-(१) मोक्ष में भावी मे भी दुःख नहीं, वास्ते मोक्ष का आकर्षण, (२) न्यूनता-दर्शन का मी दुःख नहीं वास्ते आकर्षण, एवं (३) वहां अनंत सुख इसलिए आकर्षण । स्वर्ग में ये तीनों बात नहीं है, अतः मुमुक्षु को स्वर्गका आकर्षण नहीं होता ।

प्र०-मोक्ष में सुख क्या?

उ०-(१) मातापिता को शत्रुवत् त्रास देने वाला लडका परदेश चला जाए तो मातापिता को कितना आनंद होता है? (२) वैसे भयंकर एक व्याधि भी मिटने पर कितना आनंद? (३) रोजाना हन्टर से मार खाने वाले आजीवन कैदी को मुक्ति मिलने पर कितना आनन्द होता है? (४) एक भी अत्यन्त इष्ट मिलने पर कितना आनन्द ! तब मोक्ष में जहां सर्व शत्रुका नाश हो गया है, सब व्याधियों का अंत हो गया है, समस्त त्रास समूल मिट गये है, सर्व इष्ट सिद्ध हुए है ऐसे मोक्ष में सुख आनंद का क्या पूछना?

प्र०- मोक्ष में अच्छे खानपान-संपत्ति-सत्ता आदि कुछ भी तो है नहीं, तब सुखानुभव कैसे?

उ०- खानपान आदि सब में सांयोगिक सुख का यानी सापेक्ष सुख का अनुभव है। एैसे सुख के अनुभव में विषयसंयोग की अपेक्षा रहती है। मोक्ष में असांयोगिक सुख है, निरपेक्ष सुख है; अर्थात्

सुखानुभव के लिए किसी विषयसंयोग की अपेक्षा ही नहीं। यह आत्मा का नैसर्गिक सुख है, और वह अनन्त है, एवं शाश्वत है।

प्र०-ऐसे तो आत्मगुण 'ज्ञान' भी नैसर्गिक है फिर इस पर कितने भी आवरण आने पर भी जैसे किंचित् ज्ञान-प्रकाश खुला रहता है, अनुभूत होता है, इस प्रकार नैसर्गिक आत्मसुख पर संसारावस्था में कितना भी वेदनीय कर्म का आवरण आने पर भी किंचित् मोक्षसुख का अनुभव क्यों नहीं होता है?

उ०-ज्ञान पर के आवरण यानी 'ज्ञानावरण कर्म' में क्षयोपशम होता है, वास्ते इस कर्म में उदय-क्षयोपशम-क्षय तीन स्थिति है; किन्तु आत्म-सुखावरणरूप 'वेदनीय कर्म' में क्षयोपशम नहीं होता है, मात्र उदय एवं क्षय दो ही स्थिति होती हैं । इसलिए वेदनीय कर्म का तनीक भी उदय रहने पर मोक्ष-सुख का तनीक भी अनुभव नहीं होता है । मोक्षसुख का हमें अनुभव न होने का दूसरा कारण यह है कि हमें सांयोगिक सुखानुभव बहुत अभ्यसत है वास्ते असांयोगिक मोक्षसुख का अनुभव कहां से हो सके? जनम से दाद के दरदी को खाजसुख का ही अनुभव बहु अभ्यस्त रहने से उसको दाद के दरद रहित मानवी की तरह बिना खाज के सुख का अनुभव कहां से हो सके? अथवा कामुक को ब्रह्मचर्य के सुख का अनुभव कहां से होवे? अरे ! उसे ब्रह्मचर्य में आनन्द है इसकी कल्पना भी नहीं आती ! हां, जो बडे संयमवाला सदाचारी है वह इसकी कल्पना

व कुछ अनुभव कर सकता है । सर्व संग के त्यागी महर्षि को मोक्ष-सुख की वानगी का आस्वाद आ सकता है ।

प्र०- मोक्ष जैसी चीज है इनमें कोई प्रमाण हैं?

उ०- हां, (i) 'मोक्ष' शब्द एक शुद्ध (असामासिक) एवं व्युत्पत्तियुक्त पद है वास्ते वह किसी न किसी वाच्य सत् पदार्थ का वाचक है, जैसे 'जीव' शब्द, 'घर' शब्द इत्यादि । एवं (ii) जीव को अगर बन्धनयुक्त होने से संसार है, तब बन्धनमुक्त होने से मोक्ष भी होना ही चाहिए । (iii) मोक्ष का निषेध हो सकता है, जैसे कि हमारा मोक्ष नहीं हुआ है; वास्ते मोक्ष सत् पदार्थ है । जगत में सत् पदार्थ का ही निषेध हो सकता है सर्वथा असत् का नहीं । उदाहरणार्थ, आकाशकुसुम सर्वथा असत् पदार्थ है वास्ते इसका निषेध नहीं हो सकता है कि 'इस स्थान में आकाशकुसुम नहीं है ।'

ध्यान में रहे, मानव भव में से ही मोक्ष होता है; चूंकि मोक्ष में कारणभूत सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञान को मनुष्य ही पा सकता है। संसार में से छः मास में कम से कम एक जीव सिद्ध बनता है। यहां से जितने सिद्ध होते हैं, उतने जीव अनादि निगोद से बाहर आते है । आज तक सर्व अभव्य से अनंतगुण जीव सिद्ध हुए हैं व एक निगोद के सर्व जीव से अनंत भागे सिद्ध हुए हैं।

मुक्त हुए जीव को पुनः कभी भी कर्म का संयोग प्राप्त नहीं होता । फलतः अब (१) अक्षय-अव्याबाघ-अनन्त सुख, (२) अनन्त

ज्ञान, (३) अनन्त दर्शन, तथा (४) अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय की नित्य स्थिति होती है वैसे तो आठ कर्मो के नाश से शाश्वतकाल के लिए मूल आठ गुण प्रगट होते हैं, जिनके कारण अब उसको कभी संसार नहीं । जीव मोक्ष में ऋजुगति से ही व एक समय में ही जाता है, और उपर लोक के मस्तक पर शाश्वत स्थिर रही हुई स्फटिक रत्न की ४५ लाख योजन चौडी वर्तुलाकार सिद्धशिला पर विराजमान होता है । वास्ते यहाँ ४५ लाख योजनमान मनुष्य क्षेत्र में से ही मोक्ष जा सकता है । इन में कृत्रिम नपुंसक की अपेक्षा स्त्री-सिद्ध संख्यातगुण, इन से पुरुष-सिद्ध संख्यातगुण होते है । संहृत-सिद्ध की अपेक्षा जन्म क्षेत्रे सिद्ध असंख्यगुण होते है, ऐसे उर्ध्व० से अधोवाले असंख्यगुण सिद्ध । संहृत सिद्ध की अपेक्षा असंख्यगुण जन्म क्षेत्रे सिद्ध उर्ध्वलोके सिद्ध से असं० अघोलोके । अघोलोके सिद्ध से तिर्च्छालोके; समुद्रे सिद्ध से द्वीपे असं० गुण । उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी महाविदेहे असं० उत्स. की अपेक्षा अवस० में सिद्ध विशेषाधिक ।

९ सत्पदादि प्ररूपणा :-

मोक्ष तत्त्व तथा अन्य तत्वों का भी विस्तारपूर्वक विचार करना हो, तो इस विषय में सत्पदादि नौ पदों से ६२ मार्गणा-द्वारों में विचार (व्याख्यान) हो सकता है ।

'सत्पदादि' अर्थात् (१) क्या वस्तु सत् है? (२) वस्तु का द्रव्य-

प्रमाण कितना? (३) वस्तु का क्षेत्र कितना?....इत्यादि । 'मार्गणा द्वार' अर्थात् वस्तु पर विचारणार्थ मुद्दे, विषय, (Points) । ये कोन कोन से हैं उन पर विचार करने से पूर्व सत्पद आदि की प्ररूपणा पर दृष्टिपात कर लें । - इसकी गाथा, --

१ २ ३ ४

"संतपय परूवणा, द्रव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।

५ ६ ७ ८ ९

कालो अंतर भागो, भावो अप्पबहुत्तं च ।।"

१. सत्पद प्ररूपणाः- अर्थात् प्रस्तुत पद (नाम) की वस्तु की सत्ता को गति इन्द्रिय आदि मार्गणा द्वारों (स्थानों) में प्ररूपित करना ।

प्ररूपणा = कथन, विचारणा करना । जैसे कि क्या सम्यग्दर्शन नरक गति में हैं? पृथ्वीकाय में होता है? काययोग में है?...

२ द्रव्य प्रमाण :- यह वस्तु संख्या या प्रमाण में कितनी है?

३ क्षेत्र :- वस्तु कौन सी अथवा कितनी जगह में रही है?

४ स्पर्शना :- वस्तु के साथ कितने आकाश प्रदेशों का स्पर्श हैं? जैसे कि परमाणु का क्षेत्र १ आकाश-प्रदेश, व स्पर्शना ७ आकाश प्रदेशों की; चार दिशाओं के चार प्रदेश + ऊपर नीचे की दो दिशाओं के २ प्रदेश + १ परमाणु से आवृत १ प्रदेश = ७ प्रदेश ।

५ काल :- उसकी स्थिति कितने समय की है? कितने समय

तक वह टिकती है?

६ अंतर :- ऐसी वस्तु के पुनः बनने में बीचमें कितने समय का अन्तर यानी विरह होता हैं?

७ भाग :- वह वस्तु, स्वजातीय अथवा परजातीय की अपेक्षा से कितने सें भाग में है?

८ भाव :- वह वस्तु औदयिक आदि पांच भावों में से किस भाव में विद्यमान हैं? इस पांच में से वस्तु का कौनसा भाव हैं?

९ अल्प-बहुत्व :- वस्तु के प्रकारों में परस्पर न्यूनाधिकता कितनी है? कौन सा कम हैं, कौन सा अधिक? कितना अधिक?

भाव ५ :-

- यहाँ भाव का आशय हैं वस्तु में विद्यमान परिणाम परिणमन। इसके पांच प्रकार हैं । (१) औदयिक, - आत्मा में कर्म के उदय से होने वाला परिणाम । जैसे कि अज्ञान, निद्रा, गति, शरीर आदि औदयिक भाव है । (२) पारिणामिक, - अनादि का वैसा परिणामः जैसे जीवत्व-भव्यत्व आदि । (३) ओपशमिक भाव - अर्थात् मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला भाव; जैसे कि सम्यक्त्व और चारित्र भाव (४) क्षायोपशमिक - घाती कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला भाव। जैसे की ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से प्रगट होनेवाला ज्ञान, दर्शन, क्षमा, दान, आदि । ये क्षायोपशमिक भाव में है । (५) क्षायिक,

कर्म के क्षय से उत्पन्न परिणाम । जैसे की क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, सिद्धत्व आदि, ये क्षायिक भाव है ।

'मोक्ष' शब्द यह शुद्ध (एक, असमस्त) शब्द है, तथा व्युत्पत्ति-सिद्ध पद है, अतः इसका वाच्य मोक्ष पदार्थ सत् है, विद्यमान है काल्पनिक नहीं है।

६२ मार्गणा द्वार-

मार्गणा = शोधन करने का मुद्रा-विषय (POINTS) । मार्गणा १४ मार्गणा-द्वारों से होती है । इन के अवान्तर भेद ६२ है । १४ मार्गणा ये हैं - (१) गति ४, (२) इन्द्रिय ५, (३) काय ६. (४) योग, - मनोयोगादि ३, (५) वेद ३, (पुरुष-वेद, स्त्री-वेद नपुंसक-वेद, (६) कषाय ४, (७) ५ ज्ञान + ३ अज्ञान = ८, (८) संयम ७, (९) दर्शन ४, (१०) लेश्या ६, (११) भव्यत्व-अभव्यत्व २, (१२) सम्यक्त्व ६, (१३) संज्ञी-असंज्ञी २, (१४) आहारक-अनाहारक २, (इनमें ७ संयम = कौन? ये, - सामायिक आदि ५ + देशविरति एवं ७ अविरति सम्यकत्व = कौन? ये, - क्षायिक, क्षायोपशमिक, ओपशमिक, मिश्रमोहनीय, सास्वादन और मिथ्यात्व) इस प्रकार कुल ६२ मार्गणा है।

अब हम प्रत्येक मार्गणा में मोक्ष की सत्पद प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाण आदि से विचार करें ।

इनमें से मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसकाय, भव्यत्व, संज्ञी,

यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन, -इतनी मार्गणाओं में मोक्ष होता है । शेष में नहीं ।

जैसे कि, गति मार्गणा में देवादि गति में मोक्ष नहीं । इन्द्रिय में एकेन्द्रिय को मोक्ष नहीं । योग, वेद आदि मोक्ष के पूर्व शैलेशी के समय होते ही नहीं । अतः इतने मार्गणा-द्वारों में मोक्ष नहीं होता । यह 'मोक्ष सत्' अर्थात् उसके अस्तित्व की विचारणा है । इस प्रकार ६२ मार्गणाओं में हरेक में द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र, आदि की विचारणा करनी है । अर्थात् जीव कितनी संख्या में मोक्ष जाते है? कितने क्षेत्र में? आदि का विचार ।

(१) सत्पद- 'मोक्ष' पद सत् पद है । क्योंकि यह असत् नहीं, कल्पित नहीं, किन्तु वास्तविक मोक्ष का वाचक पद है ।

(२) द्रव्य-प्रमाण, - जैसे कि, सिद्धो अनंत है; सब जीवों से अनन्त वें भाग में हैं तथा सर्व अभव्यो से अनन्त-गुण हैं ।

(३-४) क्षेत्र और स्पर्शना, - एक अथवा समस्त सिद्ध लोकाकाश क्षेत्र के असंख्यातवें भाग की अवगाहना तथा स्पर्शनावाले है। अवगाह-क्षेत्र की अपेक्षा स्पर्शना यह आसपास के स्पृष्ट आकाश-प्रदेशों से अधिक हैं ।

(५) काल, - एक सिद्ध की अपेक्षा से काल सादि अनन्त है सादि का भाव यह है, -किसी एक जीव की अपेक्षा से मोक्ष का

आरंभ है । अनन्त का तात्पर्य है कि इसके बाद इस मोक्ष का अन्त नही । सिद्ध प्रवाहकी अपेक्षा से काल अनादि अनंत है । अनादि अनंत काल से सिद्ध होते आये हैं ।

(६) अंतर, - सिद्धावस्था से च्यवन पाकर दूसरे स्थान में जाकर यदि पुनःवापिस आकर सिद्ध हो, तो यह बीच में अंतर जो पड़ा उसको अंतर माना जाए । परंतु सिद्ध का कभी च्यवन नहीं होता सिद्ध होकर पुनःअसिद्ध (संसारी) होता ही नहीं है । अतः अंतरका अभाव है ।

(७) भाग, - कुल सिद्ध सर्व जीवों के अनन्त वे भाग में हैं।

(८) भाव,-सिद्धों का केवलज्ञान-केवलदर्शन तथा सिद्ध- भाव क्षायिक भाव में हैं ।

(९) अल्पबहुत्व - सबसे कम नपुंसकत्व में हुए सिद्ध है । (जन्म से नपुंसक नहीं किन्तु कृत्रिम यानी बाद में हुए) । उनकी अपेक्षा संख्यातगुणा स्त्रीत्व से हुये सिद्ध हैं । उनसे भी संख्यात गुणा पुरूषरूप से हुए सिद्ध हैं ।

अधिक से अधिक कितनी आत्मा सतत ज्यादे से ज्यादे कितने समय तक सिद्ध होती हैं?

१ से ३२ ...८ समय तक ७३ से ८४ ...४ समय तक

३३ से ४८ ...७ समय तक ८५ से ९६ ...३ समय तक

४९ से ६० ...६ समय तक ९७ से १०२ ...२ समय तक

६९ से ७२ ...५ समय तक १०३ से १०८...१ समय तक

इतने समय के बाद अन्तर अवश्य पडता है । अर्थात् जघन्यतः एक समय तक कोइ भी मोक्ष नहीं जाता ।

४५ लाख योजनप्रमाण मनुष्यलोक में से ही

(१) मनुष्य ही मोक्ष जाते है । लोक के शिखर पर सिद्धशिला भी, इसी माप की हैं । (२) भरत और ऐरावत क्षेत्र में तीसरे और चोथे आरे में ही जन्म लेने वाले मोक्ष जाते हैं । महाविदेह क्षेत्र में सदा मोक्षमें जा सकते हैं । (३) यथाख्यात चारित्रवाले केवली ही मोक्ष जाते है । (४) किसी भी आत्मा की सिद्धि होने के बाद अधिक से अधिक छः माह में दूसरी आत्मा की सिद्धि होती हैं । (५) जितनी आत्मा सिद्ध होती हैं उतनी आत्मा अनादि निगोद अर्थात् अव्यवहार राशिमें से बाहर निकलती है ।

अब अल्पबहुत्व पर दूसरी रीति से विचार करें । किसी देव द्वारा क्षेत्रान्तर में संहरण होकर सिद्ध हुए जीवों की अपेक्षा जन्म -क्षेत्र में सिद्ध , उर्ध्व लोक की अपेक्षा अधोलोक में सिद्ध, उनकी अपेक्षा तिर्च्छालोक में सिद्ध, समुद्र की अपेक्षा द्वीपों में से सिद्ध, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की अपेक्षा महाविदेह में से सिद्ध (उत्सर्पि ० की अपेक्षा अवस ० में विशेषाधिक), तिर्यंच में से मनुष्य बनकर सिद्ध

होने वालों की अपेक्षा मनुष्य में से मनुष्य बनकर होने वाले सिद्ध, उनकी अपेक्षा नरक में से मनु ० हो सिद्ध, उनकी अपेक्षा देवों में से मनुष्य होकर सिद्ध, अतीर्थ-सिद्धों की अपेक्षा तिर्थ-सिद्ध असंख्यात-गुण/ असंख्यात-गुण होते है ।

सिद्धों के १५ भेद :-

यहाँ 'सिद्ध' = विदेहसिद्ध या कैवल्यसिद्ध । चरम मनुष्यभव की अपेक्षा से कैवल्य सिद्ध के १५ भेद हैं । १. कोइ जिन सिद्ध (तीर्थंकर बनकर सिद्ध) । २. कोइ (असंख्यातगुण) अजिन सिद्ध)। ३. कोइ तीर्थ -सिद्ध (तीर्थ- स्थापना के पश्चात् मोक्ष प्राप्त। ४. कोइ अतीर्थ-सिद्ध, (तीर्थ- स्थापना से पहले सिद्ध जैसे मरूदेवी, अथवा तीर्थ नष्ट होने के बाद सिद्ध) । ५. गृहस्थलिंग सिद्ध (गृहस्थ वेश में केवलज्ञान-प्राप्त भरत-चकवर्ती आदि) । ६. अन्यलिंग सिद्ध (तापस आदि वल्कलचीरी) । ७. स्वलिंग सिद्ध - (साधुवेश में) । ८-१०. स्त्री-पुरुष-नपुंसकलिंग सिद्ध (नपु०गाँगेय) । ११. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध (वैराग्य-जनक निमित्त पाकर विरागी और केवली हुए करकंडु) । १२. स्वयंबुद्धसिद्ध (कर्मस्थिति लघु होने के कारण स्वतः बुद्ध, कपिल (विप्र) । १३. बुद्धबोधित सिद्ध (गुरु से उपदेश प्राप्त कर बने सिद्ध)। १४. एक सिद्ध (एक समय में एक ही सिद्ध,-श्री वीर प्रभु) । १५. अनेक सिद्ध (एक समय में हुए अनेकसिद्ध) । ५वें ६वें के संबंध में ध्यान में रहे कि पूर्व भव में चारित्रकी खूब साधना की होती हैं ।

नव तत्त्व का प्रभाव :-

जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वो के ज्ञान से सम्यक्त्व (सम्यगदर्शन) प्रगट होता है । इतना ही नहीं किन्तु नौ तत्त्व के विस्तृत स्वरूप को न जानने बाला भी 'ये ही तत्त्वो सत्य है' ऐसी भावसे श्रद्धा करनेवाला भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है, 'क्योंकी सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर देव के सर्व वचन सत्य ही होते हैं, एक भी वचन मिथ्या नहीं होता है।' ऐसी बुद्धि जिसके मनमें होती है, उस में सम्यग्दर्शन होता है। झूठ; राग, द्वेष अथवा अज्ञान के कारण बोला जाता है । वे सर्वज्ञ में है ही नहीं । अतः उनका कोइ भी वचन तनीक भी असत्य नहीं होता, किन्तु समस्त वचन सत्य ही होते है।

एक अन्तर्मुहूर्त के लिए भी जिस को सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ है, वह संसार में अर्धपुद्गलपरावर्त से अधिक काल तक नहीं रहता। अधिक से अधिक अवधि में वह मोक्ष में जाता ही है । अनन्त कालचक्रों का एक पुद्गल-परावर्त होता है । ऐसे अनन्त अनन्त पुद्गलपरावर्तो का अतीतकाल व्यतीत हो चुका है । इसमें अनन्तानन्त जीव मोक्ष में गए हैं ।

जब-जब भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अब तक कितने जीव मोक्ष जा चुके हैं? तब-तब जैनदर्शन का इस विषय में एक ही उत्तर है कि 'एक निगोद में विद्यमान अनंतानंत जीवों की संख्या के अनन्तवें भाग जितनी ही संख्या अब तक मुक्त हुए जीवों की है।'

(२०)
श्रावक की दिनचर्या

सम्यग् आचारों से विचारों का संस्करण-शुद्धिकरण होता है । सद् आचार से सद् विचार बनते हैं । बाह्य क्रिया के अनुसार अन्तर के वैसे वैसे भावो और हृदय की वैसी वैसी परिणति निर्माण होती है । अच्छी क्रिया से अच्छी परिणति बनती है व बुरी क्रिया से बुरी। श्रावक-जीवन के सुन्दर विचार, सुन्दर भाव, और सुन्दर परिणति का सर्जन और पुष्टि के लिए सुन्दर आचार और सुन्दर क्रियाएँ आवश्यक हैं । इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए 'श्राद्धविधि' आदि जैन शास्त्रों में श्रावक जीवन के (i) दिनकृत्यो, (ii) पर्वकृत्यो, (iii) चातुर्मासिक कर्तव्यो (iv) पर्युषण कर्तव्यो, (v) वार्षिक कर्तव्यो, और (vi) जीवन कृत्यो के विचार प्रतिपादित किए गए हैं । सर्वप्रथम दिनकृत्यो का विचार करेंगे । यह इस प्रकार है,-

प्राभातिक कर्तव्य : नवकार-स्मरण :-

'श्रावक तुं ऊठे प्रभात, चार घड़ी रहे पिछली रात'-अर्थात् :- आत्मार्थी श्रावक को सूर्योदय से ४ घडी पहले जाग जाना चाहिए। सुबह जागते ही 'नमो अरिंहताणं' याद करते हुए 'अनंत अरिहंत भगवंत को मैं नमस्कार करता हुँ' ऐसे नजर समक्ष लाते हुए मस्तक नमा कर करबद्ध प्रणाम करना चाहिए । बाद में विनय के लिए तुरंत बिछाने से बाहर निकल कर (शय्या त्याग कर) पूर्व या उत्तर

दिशा सन्मुख बैठकर ७-८ नवकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए । हृदय-कमल की कर्णिका और आठ पंखुडियों में ९ पदों का चिंतन किया जा सकता है ।

धर्म-जागरिकाः-

बाद में इस बात का स्मरण कर धर्म जागरिका करनी,- (i) 'कोऽहं?' (ii) 'को मम कालो?' (iii) 'किमेअस्स उचिअं?' ।

अर्थात् (i) 'कोऽहं -मैं कौन हूँ?' अनंत जन्मों के बाद मिल सके ऐसे अति दुर्लभ मानव भव को प्राप्त हूँ ।

(ii) 'को मम कालो?' - मुझे यह कौन सा अवसर मिला है? संसार से मुक्त कर सके ऐसा अतिदुर्लभ जिनशासन का सुवर्ण अवसर मिला है।

(iii) 'किं एअस्स उचिअं?' - ऐसे सुवर्ण अवसर के योग्य मेरा कर्तव्य क्या है? यही कि अति कीमती जिनशासन की - जैनधर्म की आराधना करूं । पूर्व में अनंत मानवभव संसार की आराधना करते करते गँवाये, अब जिनोक्त धर्म की विविध आराधना कर के इस मानवभव को सफल करूं, ता कि यहाँ की भरचक धर्म करणियों से यहाँ का अंतिम काल भी इस प्रकार सुखद आये, "चलो अच्छा हुआ मैंने भरचक धर्म- साधनाएँ की है, तो अब जाने में मुझे कोई दुःख नहीं ! अच्छे स्थल पर मुझे ट्रान्सफर मिलनेवाला है । मेरी सद्गति होने वाली है । मुझे जिनेश्वर भगवान व जैनशासन मिलने

वाला है ।" ऐसा आश्वासन रहें; व मृत्यु के बाद आगे सद्‌गति मिले।

प्रतिक्रमण :-

प्रभात में जागकर नवकार स्मरण और आत्मचिन्ता करके धर्मस्फूर्ति प्राप्त करनी चाहिए । उसके बाद सामायिक, प्रतिक्रमण किया जाए । यदि यह शक्य न हो तो विश्व के समस्त तीर्थो, जिनमँदिरों प्रतिमाओं को स्थलवार याद करके वंदना करनी चाहिये। विचरण करते हुये सीमंधर भगवान आदि तीर्थंकर भगवान एवं तीर्थाधिराज शत्रुंजयादि तीर्थो की वंदना-स्तुति करना । भरतेश्वर, बाहुबली आदि महापुरुषो एवं सुलसा, चंदनबाला आदि महासतीयो एवं उपकारियो का स्मरण करना । मैत्री आदि भावना का चिन्तन करना कर्तव्य है ।

पच्चक्खाण :-

तदुपरांत पच्चक्खाण धार लेना या आत्मसाक्षी से कर लेना । पच्चक्खाण कम से कम नवकारशी का करना चाहिए । इसमें सूर्योदय के पश्चात् दो घड़ी तक मुख में पानी की बुंद भी नही डालनी चाहिए । जैन धर्म में बताई गई तपस्या से पूर्व बद्ध बहुत पापकर्मो का क्षय होता है । पच्चक्खाण लेते ही पाप नष्ट !

नवकारशी आदि के फल :-

एक नवकारशी से १०० वर्ष की नरक-वेदना का पाप नष्ट होते

हैं । पोरसी से १००० वर्ष की, साढ-पोरिसी से १०,००० वर्ष की, पुरिमड्ढ से लाख वर्ष की, एकासन से १० लाख, रुखी नीवी से १ करोड, एकासन दत्ती से १० करोड, एकलठाण से १०० करोड, आयंबिल से १००० करोड, उपवास से १०,००० करोड, बेले से १ लाख करोड, तेले से १० लाख करोड...वर्ष तक की नरक-वेदना के पाप नष्ट होते हैं ।

पच्चक्खाण लेने के बाद जिनमंदिर में जाकर परमात्मा का दर्शन, प्रणाम, पूजा और स्तुति करनी चाहिए । 'जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन-पूजन आदि धर्म करने से हमें उच्च आर्य मनुष्यभव, ऐसे प्रभु, व जिनशासन आदिके, पुण्य का लाभ मिला, -यह प्रभु का उपकार है' इस बात को याद करके गद्‌गद होना चाहिए ।' प्रभु ने चिंतामणि से भी अधिक मूल्यवान दर्शनादि दिया इसका हमें अतीव हर्ष हो, प्रभु के अनुपम उपकार पर कृतज्ञता का भाव हो, रोमांच खडे हो, आँखे अश्रुओं से आर्द्र हो, ऐसे दर्शन-पूजन-स्तवन करने चाहिए । बाद में धूप, दीप, वासक्षेप आदि पूजा तथा चैत्यवंदन-स्तवना करके पच्चक्खाण का उच्चारण करना । तत्पश्चात् उपाश्रय में गुरुजी के पास आकर वंदन करना, सुख-शाता पूछनी, और उनसे पच्चक्खाण लेना, उन्हें भात-पानी-वस्त्र-पात्र-पुस्तक-औषध का लाभ देने की विनंती करनी ।

गुरु-वंदनः- सुगुरु पंच महाव्रतधारी, जिनाज्ञा-प्रतिबद्ध मुनिमहाराज के पास जाकर, जब तक वहां रहें तब तक के लिए, 'सावज्जं जोगं

पच्चक्खामि, जाव साहू... पज्जुवासामि' इस पच्चक्खाण से मन में सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग धारण कर, हाथ जोड़कर 'मत्थएण वंदामि' करना । महान ब्रह्मचारी संयमी मुनि के दर्शन उपलब्ध होने पर हृदय में अपूर्व आह्लाद प्रगट होना चाहिए । दो खमासमणां (पंचांग प्रणाम) देने के बाद हाथ जोड़कर 'इच्छकार सुहराइ०' सूत्र बोलकर सुख-शाता पूछनी । बाद भात-पानी का लाभ देने की विनंती करनी । बाद, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओमि....इच्छं खामेमि राइयं' यह पाठ खड़े खड़े हाथ जोडकर बोलने के पश्चात् नीचे घुटने टेककर शेष अब्भुट्ठिओ सूत्र भूमि पर मस्तक और दो हाथ स्थापित कर बोलना ।

इसमें गुरु की अवज्ञा-आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है, - 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो ।' तदुपरांत गुरु के पास से पच्चक्खाण लेना । पच्चक्खाण अथवा ज्ञान, वंदन करके ही लिया जाए । व्याख्यान भी वंदना पूर्वक ही सुना जाए । यह भी सावधानी रहे कि 'गुरू के सन्मुख अविनय न हो, उनकी बाहर निन्दा न हो, गुरु को कुछ भी अपमान-जनक वचन नहीं कहा जाए' इत्यादि गुरु के अविनयादि महान पापो से बचना है ।

घर आकर यदि पच्चक्खाण नवकारशी का हो तो वह निपटाकर गुरु महाराज के पास आकर व्याख्यान यानी आत्महितकर अमूल्य जिनवाणी का श्रवण करना । अंत में कोई न कोइ व्रत, नियम, अभिग्रह करना; जिससे श्रवण सफल हो और जीवन में प्रगति हो।

मध्याह्न में सावधानी रखते हुए कि जीवजन्तु न मरे, परिमित जल से स्नान करे, व मंदिर में आकर परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा करनी । पूजा में अपनी शक्ति को न छिपाते हुए अपने घर के चंदन, दूध, केशर, पुष्प, वरक, अगरबत्ती, धूप, दीपक, अक्षत, फल नैवेद्य आदि द्रव्य-सामग्री का सदुपयोग करना । क्योंकि जिनेश्वर भगवान परमपात्र हैं, सर्वोत्तम पात्र है । उनकी भक्ति में समर्पित की गयी थोडी-सी भी लक्ष्मी अक्षय लक्ष्मी बन जाती है । पंचाशक शास्त्र में लिखा है- जैसे समुद्र में पानी की एक बुंद डाली जाए तो वह अक्षय बन जाती है, वैसे ही जिनेन्द्र के चरणों में अर्पित थोड़ी-सी भी लक्ष्मी अक्षय हो जाती है । दर्शन-पूजा की विधि पर आगे विचार किया जाएगा ।

भाव पूजाः चैत्यवंदन :-

द्रव्यपूजा के बाद भावपूजा के समय अत्यधिक उल्लास पूर्वक गद्‌गद स्वर से हृदय में आनन्दाश्रु हों, इस प्रकार चैत्यवंदन की क्रिया करनी । अन्त में 'जयवीयराय' सूत्र से भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता (तत्त्वानुसारिता) आदि की, विशेष लक्ष्यकर, नम्रतापूर्वक याचना करनी। 'हमें ये चाहिए' ऐसा मनमें प्रतीत हो, इस प्रकार याचना होनी चाहिए । सूत्रों का उच्चारण, केवल तोता-रटन जैसा नहीं किन्तु मन इसके अर्थ के अनुरूप भाव लाकर करना चाहिए ।

तदनन्तर घर आकर अभक्ष्य-त्याग, ऊनोदरी, द्रव्य- संकोच और

विगई (रस) के नियमन... आदि के पालन के साथ भोजन निपटाकर, नमस्कार-मन्त्रादि धर्म-मंगल करने पूर्वक जीवन निर्वाह के लिए अर्थ चिन्ता करने जाए । 'धर्म-मंगल' इसलिए कि धर्मपुरुषार्थ श्रेष्ठ पुरुषार्थ होने से इसे दूसरे पुरुषार्थो से पहले अवश्य रखना चाहिए ।

धंधे में झूठ, अनीति, दंभ, निर्दयता आदि का बिलकुल त्याग रखना चाहिए । कमाई में से आधा-भाग घरखर्च में, चतुर्थ-भाग बचत खाते में और चतुर्थ भाग धार्मिक कार्य में लगाए ।

संध्या का भोजन इस प्रकार करना कि सूर्यास्त से दो घडी पूर्व (अथवा कम से कम सूर्यास्त से पूर्व) अशन-पान-खादिम-स्वादिम इन चारों आहार के त्याग रूप चउविहार या पानी सिवा तीन त्याग रूप तिविहार पच्चक्खाण किया जाए ।

संध्या और रात में, शाम के भोजन के पश्चात् जिन-मंदिर में धूप, आरती, मंगल-दीपक एवं चैत्यवंदन करना चाहिए । इसके बाद संध्या का प्रतिक्रमण । यदि यह संभव न होत तो स्वात्म-निरीक्षण, इसमें दिनभर के दुष्कृतों की गर्हा, शांति-पाठ करके गुरुमहाराज की सेवा-उपासना करनी चाहिए । घर आकर परिवार को कोई धर्मशास्त्र, रास अथवा तीर्थंकर भगवान आदि महापुरुषों का चरित्र सुनाना चाहिए । स्वयं भी कुछ न कुछ नवीन धार्मिक अध्ययन करके तत्त्वज्ञान में वृद्धि करें । अनित्य, अशरण आदि भावना से दिल को भावित बनाना । बाद सो जाना । निंद न आए तब तक

स्थूलभद्रादि महापुरुषों के आत्म पराक्रम याद करें एवं तीर्थो की मानसिक यात्रा करनी ।

स्थूलभद्र, सुदर्शन शेठ, जम्बूकुमार, विजय शेठ, विजया शेठानी आदि के ब्रह्मचर्यादि पराक्रमों का स्मरण करके अनंत संसार में भटकानेवाली और कभी भी तृप्त न होनेवाली कामवासना की जुगुप्सा का चिन्तन करें । निंद आने पर नवकार मन्त्र का स्मरण करके सो जाना । सोते-सोते तीर्थो की यात्रा का विस्तार पूर्वक स्मरण करना ।

संवेग- वर्धक १० चिन्तन :-

सोने के बाद बीच में निंद टूट जाये तो निम्नलिखित दस बातों पर चिंतन करके संवेग की वृद्धि करनी । १. सूक्ष्म पदार्थ, २. भव-स्थिति, ३. अधिकरण-शमन, ४. आयुष्य-हानि, ५. अनुचित चेष्टा, ६. क्षण लाभ दीपना, ७. धर्म के गुण, ८. बाधक दोष विपक्ष, ९. धर्माचार्य, १०. उद्यत विहार । (संवेग यानी दानादि-क्षमादि धर्म का रंग, मोक्ष की उत्कट इच्छा, वैराग्य, देव-गुरु-संघ-शास्त्र-भक्ति ।)

१. सूक्ष्म पदार्थ :- कर्म, इन के कारण, कर्म के विपाक, आत्मा का शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप, षड्द्रव्यादि सूक्ष्म पदार्थो की विचारणा ।

२. भवस्थिति :- (i) संसार के स्वरूप पर विचार करना, 'राजा रंक होता है, रंक राजा होता है, माता या बहन पत्नी बन जाती है, पत्नी माता बनती है, पिता पुत्र हो जाता है-पुत्र पिता' इन बातों

को देखते हुए यह सोचना कि (ii) संसार निर्गुण है । (iii) इसके स्वरूप विचित्र है, इन पर विचार करना । यह भी सोचना चाहिए कि (iv) मेरी भवस्थिति कैसे व कब परिपक्व होगी ।

३. अधिकरण शमन :- अधिकरण अर्थात् (i) कलह, अथवा (ii) कृषि कर्म आदि, तथा (iii) पाप-साधनों का शमन मैं कब करूंगा? कब इनको रोकूंगा-ऐसी भावना ।

४. आयुष्य हानि :- आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, कच्चे घडे में पानी के समान यह देखते देखते ही नष्ट हो जायगी । मैं कब तक धर्म को भूलकर प्रमाद में रहूँगा?

५. अनुचित चेष्टा :- जीवहिंसा, असत्य, छल-कपट आदि पाप कार्य कितने खराब हैं । इनके इस लोक में और परलोक में कैसे कैसे कटु परिणाम आते है यह सोचना ।

६. क्षण लाभ दीपना :- (i) मानव जीवन के अल्प क्षणो के भी शुभ-अशुभ विचार कैसे महान शुभ-अशुभ कर्मो का बंध करवाते हैं अथवा (ii) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मोक्ष साधना करने का यह कितना सुंदर सुनहरा क्षण-अवसर प्राप्त हुआ है अथवा (iii) अंधकार में दीपक के समान या समुद्र में द्वीप के समान जैनधर्म आराधने का यह कैसा सुन्दर मौका मिला है ।

७. धर्म के गुण :- (१) श्रुत-धर्म (शास्त्र-स्वाध्याय) के साक्षात्

क्षमानुभव-कारकत्व गुण, व चारित्रधर्म के पर, -आशा इन्द्रिय-विकार आदि के शमन से इन्द्रादि की अपेक्षा भी अधिक सुखानुभव-कारकत्व गुण का चिन्तन करना । अथवा (२) क्षमादि धर्म के कारण, स्वरूप और फल पर विचार करना ।

८. बाधक दोष विपक्ष :- धर्माधिकारी जीव जिन-जिन अर्थराग, 'कामराग' आदि दोषों से पीड़ित होता हो उनके प्रतिपक्षी विचार करना । 'जैसे कि अर्थराग के प्रतिपक्ष में पैसे के लिए कैसे राग-द्वेषादि संक्लेश तथा कैसे-कैसे हिंसादि पाप करने पड़ते हैं और धर्म के क्षणों की कितनी बरबादी होती है...' इत्यादि सोचना ।

९. धर्माचार्य :- धर्म की प्राप्ति और वृद्धि में कारण भूत गुरु कितने निःस्वार्थ उपकारी हैं ! अहो ! कितने गुणियल गुरु !

'यह उपकार कैसा दुष्प्रतिकार्य है ! (जिसका बदला न दे सकें)' यह सोचे ।

१०. उद्यत विहार :- 'अनियत वास, माधुकरी भिक्षा, एकांतचर्या, अल्प उपधि, पंचाचार पालन, उग्र विहार इत्यादि कितने सुन्दर मुनि के आचार-विचार ! मैं कब ये प्राप्त करूंगा ।' इस पर सविस्तार चिंतन ।

पर्व कृत्यः- धर्म की विशेष आराधना के लिए विशिष्ट दिन नियत हैं । जैसे कि पर्वदिन दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी,

पूनम-अमावस्या; कल्याणक दिवस, कार्तिक-फाल्गुन-आषाढ़ की अठाइयाँ, चैत्र आश्विन की ओली, पर्युषण । इन दिनों में धर्म विशेषरूप से आराध्य है ।

(२१)

(२५) नमस्कार (नवकार) मन्त्रः और पंच परमेष्ठी

'नमस्कार महामन्त्र' अथवा 'नवकार-मन्त्र' पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने का सूत्र है । यह सूत्र, और इसके द्वारा किए जानेवाले पंच नमस्कार, ये महामंगल स्वरूप है सकल विध्नों को दूर करनेवाले है, और अचिन्त्य सिद्धियों के दाता है । इस से सद्‌गति तो मिलती ही है अपि तु नमस्कार करते समय परमेष्ठि के सुकृत्यों तथा गुणों के प्रति अहोभाव, अनुमोदना, एवं आकर्षण रहता है । यदि अहोभाव अनुमोदना उत्कृष्ट हो जाए तो 'करण-करावण अने अनुमोदन सरिखां फल निपजायो' इस उक्ति के अनुसार करने-कराने और अनुमोदन करने का फल समान उत्पन्न होता है । सुकृत तथा गुण की सिद्धि करने की दिशा में उसका आकर्षण यह प्रथम कदम का आरंभ है ।

किसी भी धर्म या गुण की सिद्धि के निमित्त पहली सीढ़ी यह है कि अपने दिल में उसके प्रति प्रशंसा-आकर्षण जाग्रत हो ।

यह धर्म का बीज है । 'बीजं सत्प्रशंसादि' किसी भी गुण या क्षमादि धर्म आत्मा में उत्पन्न करना चाहते हो तो, पहले इसका बीजारोपण किया जाए । बीज है सम्यक् प्रशंसादि (आकर्षण-अनुमोदन-अहोभाव)। जैसे कि क्षमाधर्म के लिए महावीर प्रभु की क्षमा की प्रशंसा आदि की जाए । यह है क्षमाधर्म का बीजारोपण बीज-पन । धर्मबीज से अंकुर उगता है । धर्म की उत्कट अभिलाषा यह अंकुर है । बाद धर्म -अभ्यास हो; यह उस पर पत्र, पुष्प है । अंत में धर्म सिद्ध होता है; यह फल आया, पाक आया ।

परमेष्ठी-नमस्कार में यह आकर्षण क्रमशः कार्यान्वित बनता है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पांच परमेष्ठी हैं।

(ii) 'अरिहंत' प्रथम परमेष्ठी है । वे विचरते हुए देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा हैं । 'अरिहंत' का अर्थ हैः- जो सुरासुरेन्द्रों को भी पूजा के व अष्ट प्रातिहार्य की शोभा के अर्ह है-योग्य है । ये १८ दोषों से रहित व १२ गुणों से युक्त होते हैं । वे १८ दोष इस प्रकार हैं :-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतराय कर्म के उदय से क्रमशः १ अज्ञान, १ निद्रा, और दानादि ५ अंतराय, ये ७; दोष तथा मोहनीय कर्म के उदय से ये ११ दोष,-मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, काम,-ये ५, एवं हास्य, शोक, हर्ष, उद्वेग, भय और जुगुप्सा, ये ६ = ११ + ७ = १८ । ज्ञानावरण आदि ४ घाती कर्मो के नाश से इन अठारह दोषो को त्याग देने से वे वीतराग सर्वज्ञ बनते हैं ।

अरिहन्त के १२ गुण :- अरिहन्त में ३४ अतिशय ये पुरूषोत्तमता-परमेश्वरता की विशिष्टताएँ हैं । इनमें चार मुख्य अतिशय, और अष्ट प्रातिहार्य रूप ८ अतिशय, ये १२ अरिहन्त के गुण हैं । चार अतिशयो में, अठारह दोषों का त्याग यह एक 'अपायापगम' अतिशय है । (अपाय = दोष, अनर्थ उपद्रव) । अरिहन्त जहाँ विचरते है वहाँ १२५ योजन तक महामारी आदि उपद्रव दूर हो जाते हैं; इसे भी 'अपायापगम अतिशय' कहते हैं ।

वीतराग बनने के बाद व्यक्ति सर्वज्ञ बन जाता है, यह 'ज्ञानातिशय' है । तब कम से कम करोड़ देवता साथ रहते हैं। देवो-इन्द्रों आदि पूजा-भक्ति करते हैं, इत्यादि यह 'पूजातिशय' है।

प्रभु ३५ गुणों से युक्त देशना देते हैं, -इसे 'वचनातिशय' कहते हैं। इस प्रकार ये चार प्रमुख अतिशय हैं ।

इनके साथ आठ प्रातिहार्य गिनने से अरिहन्त के १२ गुण होते हैं। अरिहंत में कुल ३४ अतिशय (विशिष्ट वस्तु) उत्पन्न होते हैं। इनमें एक भाग आठ प्रातिहार्य हैं -सिंहासन, घेवर (चामर), भामंडल, छत्र, अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्य-ध्वनि, देव दुंदुभि । ये उनके साथ रहते हैं ।

इन विशिष्टताओं की उत्पत्ति के तीन कारण हैं,- पूर्व भव में साधित (१) अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन आदि २० पदों में सें किसी की या समस्त पदों (२०स्थानक) की उपासना तथा (२) अत्यन्त निर्मल

सम्यग्दर्शन की उच्च कोटि की साधना, तथा (३) संसार के कर्मपीड़ित समस्त जीवों का मैं कैसे उद्धार करूं 'ऐसी करूणा-भावना।

अरिहंत बननेवालें जीवन में बड़ी राजऋद्धि, वैभव आदि को तिलांजलि देकर हिंसादि सर्व पापमय प्रवृत्ति के त्याग रूप चारित्र जीवन का स्वीकार करते हैं । तत्पश्चात् कठोर संयम, तपस्या और ध्यान की साधना के साथ उपसर्ग-परिषह को सहन करते हैं । इनके द्वारा ज्ञानावरणादि चार घाती कर्मो का नाश करके वीतराग सर्वज्ञ बनते हैं । पूर्व की प्रचंड साधना से उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का पुण्य यहाँ उदय में आता है । वे अरिहंत होते है,यानी अष्ट प्रतिहार्य की शोभा के योग्य होते हैं, एवं अन्य असाधारण विशिष्टता वालें, जैसे कि चलते समय देवनिर्मित नौं सुवर्ण-कमल पर चलने वालें, सुरेन्द्र-नरेन्द्रों से पूजित, देवरचित समवसरण पर धर्मदेशना देनेवालें ... इत्यादि स्वरूप होते हैं । अरिहन्त धर्मशासन की स्थापना करते हैं, तथा साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं । बाद पृथ्वी पर विचरण करते करते धर्मप्रचार करते रहते हैं । क्रमशः आयु की समाप्ति पर शेष 'वेदनीय' आदि ४ अघाती कर्मो का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं । तब वे सिद्ध हो जाते हैं।

अरिहंत अवस्था में ४ घाती कर्मके क्षय के कारण ४ गुण होते हैं और सिद्ध -अवस्था में ४ घाती + ४ अघाती = आठों कर्म के

क्षय से ८ गुण होते हैं । तो भी 'परमेष्ठी नमस्कार' यानी नवकार मंत्र में अरिहंत को प्रथमपद पर और सिद्ध को द्वितीय पद पर इसलिए स्थापित किये हैं कि अरिहंत भगवान के उपदेश से ही दूसरे भव्य जीव भी मोक्षमार्ग की आराधना द्वारा सर्वकर्मो का क्षय करके सिद्ध होते हैं । एवं अरिहंत के धर्मशासन की आराधना द्वारा ही आचार्य -उपाध्याय -साधु बनते हैं । अतः श्रेष्ठ उपकारी 'अरिहंत' को प्रथमपद में स्थान दिया है ।

(ii) सिद्ध ये दूसरे परमेष्ठी है । 'सिद्ध' का अर्थ है 'सित' = बद्ध को 'ध्मात' = धमनेवाले, यानी बंधे हुए कर्मो को जला देने वालें; अर्थात् कर्म से मुक्त शुद्ध आत्मा । जो आत्मा 'अरिहंत' न बन सके वह भी अरिहंत के उपदेशानुसार मोक्षमार्ग की साधना करके आठों कर्मो का नाश कर सकती है; बाद मोक्ष प्राप्त करती है, तब वह 'सिद्ध' आत्मा हुई; वह सर्वथा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, निराकार स्थिति प्राप्त करके १४ राजलोक के मस्तक पर सिद्धशिला पर शाश्वत काल के लिए स्थिर हो जाती हैं; उसे 'सिद्ध' परमात्मा कहते हैं । ऐसे सिद्ध परमात्मा में ८ गुण जैसे कि-अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंत चारित्र (वीतरागता), अनन्त लब्धि, अव्याबाध अनन्त सुख, अक्षय अजर-अमर स्थिति, अरुपीता व अगुरुलघुता, - ये आठकर्मो के नष्ट हो जानेके कारण होते हैं ।

(iii) आचार्यः- ये तीसरे परमेष्ठी है। वे अरिहंत प्रभु की अनुपस्थिति

में चतुर्विध संघके अग्रणी होते हैं। गृहवास और संसार की मोहमाया के सर्व बन्धन छोडकर वे मुनि बन कर अरिहंत द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग की साधना करते हैं। जिनागम का अध्ययन करने पूर्वक विशिष्ट योग्यता प्राप्त करके गुरूद्वारा 'आचार्य' पद प्राप्त करते हैं।

आचार्य बनकर ये जगत में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पवित्र पांच आचारों का प्रचार करते हैं। पंचाचार के पालन में उद्यत बने व्यक्तियों को शरण देकर उनका निर्मल पालन करवाते हैं ५ इन्द्रियनिग्रह + ९ ब्रह्मचर्य गुप्ति + ४ कषायत्याग + ५ आचार + ५ समिति + ३ गुप्ति, - ये छत्तीस गुण आचार्य के हैं । इस प्रकार आचार्य की ३६-३६ गुणों की ३६ छत्रीसी होती हैं ।

(iv) उपाध्यायः- ये चौथे परमेष्ठी है । ये भी मुनि बने हुए होते है, तथा जिनागम का अध्ययन करके गुरु से 'उपाध्याय' पद को प्राप्त करते हैं । राजा के सदृश आचार्य के ये मन्त्री के समान बनकर मुनियों को जिनागम-सूत्र का अध्ययन कराते हैं । इनमें २५ गुण होते हैं, क्योंकि ये आचारांगादि ११ अंग + १४ पूर्व (जो १२वें दृष्टिवाद का एक मुख्य भाग है) = २५ का पठन-पाठन करते हैं।

(v) साधु :- ये पांचवें परमेष्ठी हैं । इन्होंने मोहमाया से भरे हुए संसार का त्याग करके आजीवन अहिंसादि महाव्रतों का स्वीकार किया है । ये पवित्र पंचाचार का पालन करते हैं, इसके पालनार्थ

उपयोगी शरीर का निर्वाह माधुकरी भिक्षा से करते हैं, उसमें भी उस निर्दोष आहार को ग्रहण करते हैं जो साधु के लिए न बनाया हुआ हो और न ही खरीदा गया हो इत्यादि । इसमें भी वे दाता से भिक्षा उसी अवस्था में लेते हैं, जबकि वह पानी, अग्नि, वनस्पति आदि के साक्षात् या परंपरया स्पर्श से भी सर्वथा रहित हे । इस प्रकार के कितने ही नियम पालते हैं ।

संसार के त्यागी होने के कारण साधुओं को घर-बार नहीं होते हैं । वे कंचन और कामिनी के सर्वथा त्यागी होते हैं । इन दोनों को स्पर्श भी नहीं करते हैं । ये इतने उच्च अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं । जैनसाधु वाहन में भी नहीं बैठते । ग्रामानुग्राम पैदल चलकर ही विहार करते हैं । जहाँ स्थिरता करते हैं वहां साधुचर्या की आवश्यक क्रियाओं और ज्ञान-ध्यान में दिन रात व्यस्त रहते हैं । दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल भी हजामत से नहीं उतरवाते है; बल्कि हाथ से उखाड़ देते हैं (लोच करते हैं) । लोगों को जीव-अजीव आदि 'तत्त्व' तथा अहिंसा, सत्य, नीति, सदाचार, दान, शील, तप, शुभ भावना, परोपकार आदि 'धर्म' का उपदेश देते हैं।

साधु के २७ गुण होते हैं, ६ व्रत-पालन, ६ पृथ्वीकायादि षट्काय रक्षा, ५ इन्द्रियजय, ३ मनोवाक्कायसंयम, ७ क्षमा, लोभनिग्रह, भावविशुद्धि, क्रियाविशुद्धि, पडिलेहणा, आदि में उपयोग (जागृति), अनुष्ठान में लीनता, परिषह-उपसर्ग सहन ।

इन पांच परमेष्ठियों में प्रत्येक परमेष्ठी इतने अधिक पवित्र और प्रभावशाली हैं कि उनके वारंवार स्मरण और वारंवार नमस्कार करने से विघ्न दूर होते है, श्रेय-प्रेयकारी महामंगल होता है, तथा चित्त को अनुपम प्रसन्नता, शांति स्वस्थता, तृप्ति और आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है ।

पांच परमेष्ठी का स्मरण, नमस्कार, स्तुति, प्रशंसा, जाप, ध्यान और लय, ये सब कर्मो का क्षय करके मोक्ष पद प्रदान करने में समर्थ हैं । हां; इनके साथ साथ श्रावकजीवन में हों तो श्रावकपन के उचित और साधु होने के बाद साधुत्व के उचित आचार-अनुष्ठान का सम्यक् प्रकार से पालन होना चाहिए । साथ साथ मैत्री करुणा आदि ४ भाव-भावनाएँ हृदय में सिद्ध होनी चाहिए ।

(२२)
जिनभक्तिः मंदिर के १० त्रिक

भगवान अरिहन्त परमात्मा के हम पर अनन्त उपकार हैं । (i) उनके प्रभाव से ही ऐसा सुन्दर मनुष्य भव, उच्च कुल, आर्यपन आदि अनेक पुण्य संचय प्राप्त हुआ है । उसी प्रकार (ii) उनके द्वारा प्रदत्त मोक्षमार्ग से ही तैरना है, तथा (iii) ये प्रभु जाप, दर्शन, पूजा साधना आदि में उच्च आलंबन है ।

अतः उनकी भक्ति, दर्शन, पूजा आदि कृतज्ञतारूपेण भी किए

बिना नहीं रहना चाहिये । प्रतिदिन की अन्य प्रवृत्तियों की अगर आवश्यकता है तो पूजा-प्रवृत्ति की भी अति आवश्यकता है । अतः प्रतिदिन पूजा की यह प्रवृत्ति तो अवश्य करनी चाहिए । खाली प्रभुदर्शनमात्र से नहीं निपटता है । जैसे, थाली परोसी हुयी हो, तो व्यक्ति भोजन का केवल दर्शन करके नहीं उठ जाता । फिर यहाँ केवल प्रभु के दर्शनमात्र से इति कर्तव्यता कैसे बने? वास्ते पूजा भी प्रतिदिन अवश्य करनी चाहिये । प्रभु की भक्ति में कुछ न कुछ हर रोज खर्च करना । दूध, घी, केशर, वर्क, धूपादि का समर्पण यथाशक्ति करना अत्यावश्यक है । प्रतिदिन प्रभु का स्तवन, गुणगान, जाप, स्मरण, ध्यान, प्रार्थनादि भी करना ही चाहिए ।

श्रावक को यह गौरव होना चाहिये कि - "मैं जैन हूँ । मैं अपने अनन्त उपकारी नाथ की भक्ति किए बिना भोजन नहीं करूं।" अर्हद्-भक्ति का लाभ अपरंपार है ।

"दहेरे जावा मन करे चउत्थतणुं फल होए " अर्थात्-मन्दिर जाने की मात्र भावना की, तो एक उपवास का लाभ होता है । बाद मंदिर के प्रति आगे आगे बढते फल बढता जाता है । प्रभु की अष्टकारी पूजा में फल और बढ जाता है ।

'पांच कोडीना फूलडे पाम्या देश अढार' अर्थात् कुमारपालराजा ने पांच कौड़ी के पुष्पों से पूजा करने पर अठारह देश का राज्य प्राप्त किया । नागकेतु ने पुष्प-पूजा करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया।

मन्दिर की विधि :-

मंदिर में दर्शन व पूजा के लिये जाते हुए तीन-तीन प्रकार से १० विषयों अर्थात् दश त्रिक का पालन करना जरुरी है ।

१० त्रिक :-

वीतराग प्रभु के गुणों की तथा दर्शन आदि भक्ति की अत्यन्त सुंदर भावना के साथ घर से निकल कर मार्ग में कोई जीव-जन्तु न मरे यह ध्यान रखते हुए मंदिर जाना चाहिए । मन्दिर के बाहर से प्रभुका दर्शन होते ही मस्तक पर अंजलि लगाकर 'नमो जिणाणं' बोलना । तत्पश्चात् मंदिर में प्रवेश करते हुए निसीहि से लेकर, प्रणिधान तक दस त्रिक (३-३ वस्तु) का पालन करना होता है ।

प्रवेश करते हुए (i) निसीहि, फिर (ii) प्रदक्षिणा, फिर (iii) प्रभु के सन्मुख खड़े रहकर प्रणाम-स्तुति, फिर (iv) अंग-अग्रपूजा, फिर (v) प्रभु के सामने खडे रहकर भावना (प्रभु की अवस्था का चिंतन), उस प्रकार पांच त्रिक का पालन करना ।

तत् पश्चात् चैत्यवंदन करने के पाँच त्रिक । इनमें (vi) भगवान के अतिरिक्त अन्य दिशा देखने का त्याग, (vii) बैठने की भूमि पर जीव-जन्तु न मरे वास्ते उत्तरासंग (खेस) के छोर से प्रमार्जन, (viii) चित्त के ३ आलंबन (सूत्र-अर्थ-प्रतिमा) निश्चित करना, (ix) सम्यक् आसन के लिए हस्त आदि की चोक्कस मुद्रा बनानी, (x) प्रणिधान

अर्थात् एकाग्रता पूर्वक चैत्यवंदन आदि सब क्रिया करनी ।

मंदिर के १० त्रिक का विवरण :-

निसीहि-आदि १० विषयो में हरेक के तीन-तीन भेद हैं ।

(१) निसीहि (= निषेध) ३:- पहली निसीहि मंदिर में प्रवेश करते समय सांसारिक प्रवृत्तियों के त्याग के लिए बोलनी ।

दूसरी निसीहि मूल गभारे में प्रवेश के समय बोलनी । मंदिर संबंधी सफाई, सार-संभाल आदि की भाल-भलामण अब न करने के लिए ।

तथा तीसरी निसीहि चैत्यवंदन (भावपूजा) से पूर्व द्रव्यपूजा का ध्यान छोड़ देने के लिए कही जाती है; क्योंकि अब चैत्यवंदन यानी भावपूजा में मन स्थिर रखना है ।

(२) प्रदक्षिणा ३:- अच्छी वस्तु को हमेंशा अपनी दायी ओर रखी जाती है । अतः वीतराग प्रभुजी के दायी ओर से बायी ओर (चारों ओर) तीन बार फेरी लेना, जिससे हम वीतराग बने, भवभ्रमण दूर हों; क्योंकि वीतराग के चारों ओर घुमते हुए मस्तिष्क में वीतरागता का ध्यान गुंजायमान होता है । जैसे कि भौंरी इयड (ढोले) के आसपास चक्कर लगाकर इयड में भी भौंरी-भाव उत्पन्न कर देती है । वीतराग के आसपास प्रभु के स्तोत्र या नाम के साथ घुमने से मस्तिष्क में वीतरागता का ध्यान गूंजता व संस्कार पड़ता है ।

वीतरागता का आकर्षण होता है ।

प्रदक्षिणा तीन इसलिए है कि भवरोग का नाश करने वाली औषधि तीन हैं दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति स्वरुप । फेरी लेते समय ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मानो हम समवसरण को प्रदक्षिणा दे रहे हैं ।

(३) प्रणाम ३ :- (i) अंजलिबद्ध प्रणाम, - कुछ झूके हुए ललाट के आगे अंजलि रखकर 'नमो जिणाणं' बोलना । यह मंदिर में सर्व प्रथम प्रभुदर्शन होते ही बोलना ।

(ii) अर्द्धावनत प्रणाम, - मूल गभारे के द्वार पर प्रभु के सन्मुख खड़े रहकर आधा शरीर झूकाकर अंजलिबद्ध प्रणाम करना ।

(iii) पंचाङ्गप्रणिपात (प्रणाम):- चैत्यवंदन करते हुए दो घुटनों, दो हाथ और एक मस्तक इन पांच अंगो से भूमि को स्पर्श करते हुए प्रणाम (खमासमणं) करना ।

(४) पूजा ३ :- (i) अंग-पूजा, (ii) अग्र-पूजा, तथा (iii) भाव-पूजा।

(i) प्रभु के अंग को स्पर्श करते हुए की जानेवाली पूजा 'अंग-पूजा'। जैसे कि जल (दूध), चंदन, केसर आदि, पुष्प (वरक, बादला,अलंकार) ।

(ii) प्रभु के सन्मुख चीजें ढोककर की जाने वाली पूजा 'अग्र पूजा,' - धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य । ३ अंग-पूजा और ५ अग्रपूजा

मिलाकर अष्ट प्रकारी पूजा कही जाती है । यह 'द्रव्य-पूजा' है ।

(iii) तत्पश्चात्स्तुति, चैत्यवंदन, प्रभु के गुणगान आदि स्वरुप भाव-भक्ति करनी उसको भावपूजा कहते है ।

(५) अवस्थाचिंतन ३:- द्रव्य पूजा करने के पश्चात् प्रभुजी के सामने पुरुष प्रभुजी की दायीं (अपनी बायी) ओर खडे रहकर तथा स्त्रीयां प्रभु की बांयी (अपनी दायीं) ओर खड़ी रहकर प्रभु की पिण्डस्थ, पदस्थ और रुपस्थ इन तीन अवस्थाओं का चिंतन करे । (अवस्था का स्वरुप व उसमें प्रभु के गुण झाँचे) पिण्डस्थ में जन्मावस्था, राज्यावस्था, श्रमणावस्था इन तीन अवस्थाओं का निम्नलिखित प्रकार से चिंतन करना; किन्तु वह गद्‌गद हृदय से और भारी अहोभाव के साथ चिंतन होना चाहिए ।

(i) जन्मावस्था:- 'हे नाथ ! आपने पूर्व के तीसरे भव में (१) वीस स्थानक, एवं (२) सर्वजीव की भावकरुणा तथा (३) विशुद्ध सम्यग्दर्शन की आराधना की । बाद यहाँ जब आपने तीर्थंकर के भव में जन्म प्राप्त किया तब छप्पन दिक् कुमारियां और चौसठ इन्द्रों ने आपका जन्माभिषेक उत्सव किया । जन्म के समय भी आपकी यह कैसी अद्‌भुत तो भी है प्रभु ! आपने स्वोत्कर्ष यानी लेशमात्र भी अभिमान नहीं किया । धन्य है आपकी लघुता ! धन्य है आपकी गंभीरता !'

(ii) राज्यावस्था में सोचना:- 'हे तारकदेव ! आपको बडी से बडी

राज्य-संपत्ति व राज्य-सत्ता प्राप्त हुई, तो भी आप इस में अंशमात्र भी आसक्त नहीं हुए । आप अनासक्त योगी के समान रहें । धन्य है आपका वैराग्य ।'

(iii) श्रमणावस्थाः- 'हे वीर प्रभो ! महान वैभवपूर्ण संसार को आपने तृणवत् त्यागकर कर्मक्षय व आत्मकल्याण के लिए साधुजीवन का स्वीकार कर के घोर परिषहों और उपसर्गो को समताभाव पूर्वक सहन किया । साथ ही अनुपम त्याग और घोर तप किया । रात-दिन खडे-खडे ध्यान में रहे । ऐसा करके आपने घनघाती कर्मो को चूर-चूर कर दिया । धन्य साधना ! धन्य पराक्रम ! धन्य सहिष्णुता।'

(iv) पदस्थ अवस्थाः- अर्थात् तीर्थंकर पद भोगने की अवस्था । इस विषय में यह भावना करनी चाहिए कि 'हे नाथ ! आपने कैसे चौंतीस अतिशय धारण करनेवाले अरिहंत तीर्थंकर बनकर (१) पैंतीस वाणी-गुणों से अलंकृत तत्त्वमार्ग-सिद्धान्त की धर्मदेशना प्रवाहित की! तथा (२) तीर्थ-चतुर्विध संघ व शासन की स्थापना की ! इसी प्रकार (३) दर्शन-स्मरण-पूजा-ध्यानादि में आलम्बन प्रदान कर आपने जगत् पर कितना महान् उपकार किया !'

आपने जगत को (१) जीव-अजीव आदि सम्यक् तत्त्व बताएँ (२) सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्षमार्ग दिया । व (३) अनेकान्तवाद, नयवाद आदि लोकोत्तर सिद्धान्तों का उपदेश दिया ।

हे त्रिभुवनगुरो ! आपकी देशना के लिए देवताएँ समवसरण की

रचना करते हैं । अष्टप्रातिहार्य से आपकी सेवा की जाती है । इन्द्र जैसे महानुभाव भी आपके चरणों में नमस्कार करते हैं । आपकी वाणी का प्रभाव कितना अद्‌भुत है कि उसे वन्य पशु भी अपने शिकार के साथ मैत्रीभाव से बैठकर सुनते हैं । चौवीसों घण्टे जघन्यतः एक करोड देवताएँ आपके सांनिध्य में रहकर सेवा-उपासना करते हैं ।

अहो ! आप स्मरणमात्र से अथवा दर्शनमात्र से भी दास के पापो का नाश करते हैं । आपकी उपासना मोक्ष तक के अनंत सुख को देनेवाली होती है । आपका कितना अपरम्पार प्रभाव युक्त अनंत उपकार है !! फिर भी बदले में

आपको....कुछ भी नहीं चाहिए । अहो कैसी निष्कारण वत्सलता! आपने तो घोर अपकारी-अपराधी को भी तारने का अद्‌भुत अलौकिक उपकार किया है तो मैं भी आपके द्वारा अवश्य तैर जाऊँगा ।

(v) रूपस्थ अवस्थाः- अर्थात् मोक्ष में प्रभु की शुद्ध स्वरुप-अवस्था के विषय में विचार करना । 'हे परमात्मन् ! आपने सर्व कर्मो का निर्मूल नाश करके अशरीरी, अरूपी, शुद्ध बुद्ध, मुक्त, शाश्वत सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर कैसे अनन्त ज्ञान और अनंत सुख में निमग्न रहने का किया !' कैसे अनन्तगुण ! वहां कैसी निष्कलंक, निराकार, निर्विकार निराबाध स्थिति ! कैसी वहाँ जन्म-मरण, रोग-शोक और दारिद्य आदि पीड़ा का अस्तित्व ही नहीं । धन्य प्रभु !" इस प्रकार पिंडस्थ आदि अवस्थाओं का चिंतन करना । अब तक पांच त्रिक

का वर्णन हुआ । शेष पांच ये हैं, -

(६) दिशा-त्याग ३:- अब चैत्यवंदन करना । इस में वंदना-योग का व्याघात न हो अर्थात् चित्त में प्रारंभ किया हुआ वन्दना-परिणाम दूसरे विचार या दूसरी प्रवृत्ति से लेशमात्र भी खंडित न हो और अंत तक अखण्डित रहें इसके लिए पहले (i) अपनी दोनों ओर की दो, तथा पीछे की एक,यों तीन दिशा में, अथवा (ii) ऊपर, नीचे, और आसपास-यों तीन दिशा में देखना बंद करना है । चैत्यवंदन पूरा होने तक प्रभु के सामने ही देखने का निश्चित कर लेना है । यह दिशा-त्याग है ।

(७) प्रमार्जना ३:- बैठने के पहले तीन बार दुपट्टे के छोर से जगह को जीव-रक्षार्थ प्रमार्ज लेना चाहिए । जिस से किसी सूक्ष्म भी जीव की हिंसा न हो, उसकी रक्षा ठीक प्रकार से हो ।

(८) आलम्बन ३ :- बैठकर मन को तीन आलम्बन देने हैं (i) प्रतिमा, (ii) हमारे द्वारा बोले जाने वाले सूत्र-स्तवन के शब्द, तथा (iii) उनका अर्थ; इन तीनों में ही आँख-जीभ-चित्त को स्थिर रखना।

(९) मुद्रा ३:- योग के यम-नियमादि आठ अंगों में तीसरा अंग 'आसन' है । चैत्यवंदन का महान योग सिद्ध करने के लिये योगांग की भी आवश्कता है । उसकी सिद्धि शरीर की विशिष्ट मुद्रा से होती है ।

(i) योग-मुद्राः- सूत्र-स्तुति-स्तवन आदि बोलते समय दोनो हाथों

की हथेलियों को कुछ पोली जोडकर, उंगलियों के नोंकों को एक दूसरे के बाद क्रमशः रखना, दोनों अंगुठों को एक दूसरे के बाद के पीछे रखकर तथा दोनों हाथों को कुहनी तक जोडकर कुहनी पेट पर लगानी यह योगमुद्रा है । समस्त सूत्र-स्तुति योगमुद्रा से बोली जाती है ।

(ii) मुक्ताशुक्ति मुद्राः- 'जावंति चेइयाइं....','जावंत के वि साहू...' और 'जय वीयराय' सूत्र के समय योगमुद्रा की तरह हाथ जोडना किन्तु अंगुलियों के नोक परस्पर सामने आएं तथा हथेली बीच में, मोती की सीप की तरह, ज्यादा पोली रहे यह मुक्ताशुक्ति मुद्रा है।

(iii) जिन-मुद्रा :- कायोत्सर्ग के समय खड़े रहकर दो पगों के बीच में आगे चार उंगली जगह, और पीछे इस से कम जगह रहे। हाथ लटकते रहे और दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थिर रहे। अर्थात् जैसे जिनराज काउस्सग्ग ध्यान में खडे होते हैं, इस प्रकार इसे कायोत्सर्ग मुद्रा भी कहते हैं ।

१०. प्रणिधान ३:- अर्थात् इन्द्रियो सहित काया, वचन तथा मन को अन्य वर्ताव, वाणी तथा विचार में जाने न देकर प्रस्तुत चैत्यवन्दन में ही ठीक स्थिर करना औैर चैत्यवन्दन करना ।

पूजा में सावधानीः

१. 'जिन पडिमा जिन सारिखी' -अरिहंत की मूर्ति को यह साक्षात् भगवान है ऐसा समझना चाहिये । अतः धातु की प्रतिमा को एक

स्थान से दूसरे स्थान ले जाना हो, तो बहुमान पूर्वक दोनों हाथों से थाम कर ले जाना, आदि । चक्रवर्ती से भी ज्यादा जिनबिंब का विनय करना ।

२. यह ध्यान रखना चाहिये कि द्रव्य अपने ही घर के ले जायें। क्योंकि जिनचरण रूपी समुद्र में समर्पित अल्प भी अपने द्रव्यरूपी जल-बिन्दु अक्षय लक्ष्मी बन जाते हैं ।

३. पुष्पों की कलियाँ न तोड़ी जायें, इनका हार बनाते हुए सुई से नहीं बींधा जाय । पुष्पों को धोना नही ।

४. प्रभु के अंग पर वालाकुंची का उपयोग करते वक्त जरा मात्र भी आवाज न हो इस रीति से मात्र चिकनाई दूर करने हेतु बहुत मृदु हाथ से उपयोग करना चाहिए। जिस प्रकार दांत में फँसे हुए किसी टुकडे या अंशकण को ध्यान पूर्वक निकालते हैं उसी प्रकार कोनो में भरा हुआ केशर निकालना चाहिए । वैसे तो पानी से लच बच बडे कपड़े से ही प्रभु के अंग पर छबछबियां करके पूर्व दिन का चन्दन-केसर साफ करना चाहिए, किन्तु कूंची से इस प्रकार घसाघस नहीं करनी चाहिए जैसे कि पाषाण की जमीन या धातु के बरतन मांजे जाते है ।

५. प्रभु के अंगो पर चढाये गए फूल, आभूषण तथा अंगलूहना आदि नीचे भूमि पर नहीं गिरने चाहिए, यदि गिर जायें तो आभूषण-अंगलूहने को पुनः बिना धोये उपयोग न किया जाय । वास्ते उन्हें

स्वच्छ थाली में रखना चाहिए ।

६. चन्दन केसर लसटना-घुंटना रगड़ना हो तो मुंह बाँधकर, हाथ व चकला आदि धोकर करें ।

७. चैत्यवन्दन, स्तुति आदि इस प्रकार न बोला जाए, जिससे दूसरों के भक्तियोग में व्याघात हो ।

८. इसी प्रकार उस समय साथिया या अन्य क्रिया न की जायें।

९. बाहर आते समय प्रभु की ओर अपनी पीठ न हो इत्यादि सावधानी रखनी ।

(२३)
अष्ट प्रकारी पूजा में भावना

(१) जलपूजा :- यह 'स्नान-पूजा' नहीं किन्तु 'अभिषेक पूजा' है । अरिहन्त भगवान को अपने हृदय के सिंहासन पर गादीनशीन करना है । वहाँ यह भावना करनी है कि- 'हे प्रभु । आज तक मैंने मोहराजा की आज्ञा बहुत मानी; इससे संसार में अनंत भवभ्रमण किया, अब मैं मोहराजा को उठाकर पदभ्रष्ट करके हे वीतराग अरिहन्त प्रभु ! अब मैं आप को मेरे हृदय के सिंहासन पर राज्याभिषेक करता हूँ । आज से आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। इस का यह मैं अभिषेक करता हूँ ।'

'जैसे नये राजा को गादीनशीन करने के लिए मुख्यमंत्री आदि उसको चौकी पर बिठाकर उसके शिर पर अभिषेक करते है ।' अभिषेक समय रोजाना ऐसी भावना से अभिषेक करने से अपने शिर पर जिनाज्ञा का भार आता है । अभिषेकादि धर्म की आराधना के सस्कार पडते है ।

(२) चंदन पूजा :- इस में यह भावनाः- 'जैसे चन्दन घीसने पर भी शीतलता देता है, जलाने पर भी सुवास देता है, वैसे हे वीतराग ! इस चन्दन-पूजा से आप भी मुझे क्षमादि की शीतलता व दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सुवास दें ।'

(३) पुष्पपूजा :- इसमें- 'हे प्रभु ! इस पुष्पपूजा से आप मुझे, जैसे पुष्प के कण में सौंदर्य व सुगंधी है, वैसे इस पुष्पपूजा से हमारी आत्मा के अंश अंश में सुकृतो का सौंदर्य व सद्.गुणो की सुवास दें' यह भावना करनी है ।

(४) धूपपूजा :- इसमें भावना-"हे अरिहंत देव ! जैसे धूप ऊँचे ही जाता है, वैसे मेरी भी उर्ध्वगति हो । धूप से दुर्गंध दूर होती है वैसे धूपपूजा के द्वारा मेरी आत्मा में से मिथ्यात्वादि की भी दुर्गंध दूर हो ।"

(५) दीपपूजा :- इसमें भावना-"हे प्रभु ! इस दीपक पूजा से मेरा अज्ञान व मोह का अंधकार नष्ट हो, एवं मुझे केवलज्ञान तक निर्मलज्ञान का प्रकाश दें ।"

(६) अक्षतपूजा :- इस में भावना-"हे अरिहंत देव ! जैसे अक्षत बोने से फिर से उगता नही है, वैसे इस संसार में मेरा पूनर्जन्म न हो, अक्षत अखंड है वैसे मेरी आत्मा विविध जन्मो के पर्यायों से रहित, अखंड, शुद्ध, ज्ञानमय, अशरीरी हो । जैसे अक्षत वह चरम पाक (=पक्वअवस्था) है, वैसे मेरी आत्मा अंतिम परम शुद्ध अनंत सुखमय अवस्था को प्राप्त हो ।

(७) नैवेद्य पूजा :- इसमें भावना-"हे निर्विकार प्रभु ! इस नैवेद्य पूजा से मेरे आहार-रस आदि के मेरे सब विकार नष्ट हो और मुझे अनाहार पद प्राप्त हो ।"

(८) फल पूजा :- इस में भावना-"हे देवाधिदेव! इस फलपूजा से फल की तरह मुझे मोक्ष फल का दान करें ।"

रोजाना वैसी वैसी भावना के साथ अष्टप्रकारी पूजा करने से अपनी आत्मा में सुकृत-साधना-सद्‌गुणों का बीजाधान होता है, कहा भी है- 'बीजं सत्प्रशंसादि'

नवाङ्गीतिलक में भावना :-

(१) दाये-बाये अंगूठे पर तिलक करते वक्त भावना - 'हे परमपुरुष! आप के चरणस्पर्श से मैं पवित्र बनूं । स्वीच ओन करने से जैसे बल्ब में इलेक्ट्रिक पावर चला आता है, वैसे प्रभु ! आपके चरण के साथ मेरी अंगुलि का कनेक्शन करने से, आप के

वीतरागतादि अनंतगुणों का पावर मेरी आत्मा में चला आओ ।'

(२) जानु (घुटने) पर तिलक पूजा में भावना-"हे अनंतशक्ति संपन्न अरिहंत प्रभु ! आप जैसे इस जानु के बल पर समस्त चारित्र के साधना-काल में खडे ही खडे कायोत्सर्ग ध्यान में रहे, वैसा मुझे आपके जानु की पूजा से साधना-बल प्राप्त हो ।"

(३) हाथो पर तिलक पूजा में भावना - "हे दानवीर प्रभु ! चारित्र लेते पहले आपने इन हाथों से वर्ष पर्यन्त रोजाना एक करोड आठ लाख सुवर्णमुद्रा की कींमत का दान दिया वैसी मुझ में दानशक्ति दें, बडा औदार्य गुण दें ।"

(४) स्कन्धे तिलकपूजा में भावना - "हे निराभिमानी प्रभु ! आप के कंधो में से जैसे आपके पास अनंत शक्ति होते हुए भी अति दुष्ट अभिमानी उपद्रव करनेवाले अल्पबली अत्याचारी के प्रति भी लेश भी अभिमान से कंधा ऊँचा नहीं किया । वैसी निरभिमानता मुझ में प्राप्त हो।"

(५) मस्तक पर तिलक में भावना - "प्रभु ! आपने जैसे लोक के सर्वोच्च स्थान सिद्ध शिला पर शाश्वत वास किया, वैसे आप के मस्तक की पूजा से मुझे भी वहाँ वास हो ! आपने मस्तिष्क में हंमेशा परहितचिंतन व स्वात्मध्यान ही रखा था; वास्ते मस्तक की पूजा से मुझे भी यही प्राप्त हो ।"

(६) ललाट पर तिलक में भावना - "प्रभु ! त्रिभुवन जन अपने

ललाट में आपके चरण को लगाते है वास्ते आप त्रिभुवन तिलक है । पूजा या पीड़ा में आप के ललाट पर कुछ भी हर्ष या खेद की रेखा नहीं । आपके ऐसे प्रशांत ललाट की मैं पूजा करता हूँ और आपका अथाग मोक्ष पुरुषार्थ होने पर भी तत्काल उत्कृष्ट फल न देखने से, आपको अपने ललाट के लेख पर प्रबल श्रद्धा होने से विह्वलता नहीं हुइ, ऐसे आपके ललाट की मैं पूजा कर यही मांगता हूँ ।"

(७) कंठ पर तिलक में भावना :- "प्रभु ! आप के कंठ ने तत्त्ववाणी प्रकाशन द्वारा जगत का उद्धार किया वास्ते मैं कंठ की पूजा करता हूँ और चाहता हूँ कि-(i) मुझे आप के वचन की अनन्य प्रेम से उपासना रात दिन चले । एवं (ii) मुझ में स्व-पर हितकारी वचनशक्ति आए । (iii) आप के मौन के समान मैं मौन रखकर आत्मनिष्ठ बनूं ।"

(८) हृदय पर तिलक में भावना :- "प्रभु ! उपशम, निस्पृहता व करुणा से भरे आप के हृदय की जब कल्पना करता हुँ उस समय मेरे रोम रोम हर्षित हो उठते हैं । ऐसे प्राणीमात्र पर प्रेम के सागर समान आप के हृदय की, ऐसे मेरे हृदय की कामना से, मैं पूजा करता हूँ ।

(९) नाभि पर तिलक में भावना :- "प्रभु ! आपने नाभिकमल में प्राण स्थिर कर ऐसा मन से आत्मा के शुद्ध स्वरुप का ऐसा ध्यान

किया कि ध्याता-ध्येय-ध्यान का एकत्व हो, आपने उत्कृष्ट समाधि, क्षपक श्रेणि, व केवलज्ञान पाया । अतः आपके नाभिकमल की पूजा से मुझे भी नाभि में ऐसे प्राणस्तंभन व मन से आत्मस्वरुप में लानाता यानी समाधि प्राप्त हो ।"

इस प्रकार वैसी वैसी भावनाओं के साथ जिनेश्वर भगवंत को नवांगीतिलक व अष्टप्रकारी पूजा करने से (i) मन निर्मल होता है, (ii) शुभ भावनाएँ जाग्रत होती हैं, और (iii) इन से धर्म में सुदृढता आती है, एवं (iv) विशिष्ट कर्मक्षय होता है, व (v) गुणस्थानक की वृद्धि होती है । अंत में जीव शिव बनता है, जैन 'जिन' बनता है, आत्मा 'परमात्मा' हो जाती है ।

(२४)
पर्व और आराधना

सामान्य दिनों की अपेक्षा पर्व के दिनों में धर्माराधना विशेष प्रकार से करनी चाहिए । क्यों कि जैसे व्यावहारिक जीवन में दिपावली आदि के विशेष दिनों में लोग विशिष्ट भोजन तथा आनंद-प्रमोद करते हैं, जिससे सांसारिक उल्लास बढ़ता है, वैसे ही पर्व की आराधना विशेष प्रकारेण करने से धर्म-विषयक उल्लास बढ़ता है ।

सामान्य पर्व के दिनो में तपस्या, अरिहंत प्रभु की विशेष भक्ति, चैत्यपरिपाटी (ग्राम या नगर के मन्दिरों में दर्शन), समस्त साधुओ

को वंदना, पौषध, सामायिक, ब्रह्मचर्य-पालन तथा दो टंक प्रतिक्रमण आदि करना । सचित्तजल त्याग, विगय-त्याग, हरी सब्जी का त्याग, दलना, कूटना, कपड़े धोना, रंगना, खोदना इत्यादि आरंभ-समारंभों का त्याग एवं क्लेश-कलह का त्याग आदि करना ।

परभव की आयुष्य का बन्ध प्रायः पर्व तिथियो में होता है। अतः यदि दिन धर्मकृत्यो में व्यतीत हो तो दुर्गति की आयु का बंध नहीं होगा । प्रति मास दूज आदि बारह पर्वतिथियों की आराधना करनी । यह शक्य न हो तो, कम से कम पांच तिथि (सुदी पंचमी-दो अष्टमी और दो चतुर्दशी) की आराधना तो अवश्यमेव करनी । बाकी तिथियों में भी अमुक अमुक तिथि विशेष उद्देश से भी आराधी जाती है । वह भी उपवास आदि करने, जैसे कि ग्यारस-तिथि ११ गणधर की एवं ११ अंग- आगम की आराधना के लिए आराधी जाती है ।

यदि सभी पर्वतिथियों का आराधन उच्च प्रकार से शक्य न हो तो भी शक्य प्रमाण में कुछ न कुछ विशेष त्याग, जिन-भक्ति, दान, प्रतिक्रमण, आरंभ-समारम्भ में संकोच आदि की आराधना करनी ।

कल्याणक-तिथियों के दिन १२पर्वतिथि के समान आराध्य हैं। कम से कम उन तीर्थंकरों के नाम की उस कल्याणक की माला गिननी । इस से अर्हद्भक्ति का भाव जागता और बढ़ता है।

प्रत्येक मास की	कार्तिक शुदि-५	वर्ष की भिन्न- भिन्न	कार्तिक, फाल्गुन व
२ दूज	३ चौमासी चतुर्दशी	तिथियों में २४ तीर्थंकरो के	अषाढ की तीन
२ पंचमी	मार्गशीर्षशुक्ल ११ (मौन एकादशी)	१२० कल्याणक	अट्ठई के दिन ।
२ अष्टमी	पौषदशमी (वदि १०) (पार्श्वजन्म कल्याणक)	विशेषत: वीर प्रभु का च्यवन कल्याणक अषाढ शुदि ६	शुदि ७ से १४ चैत्र और आसो में नवपद की ओली की दो अट्ठई
२ एकादशी	माघ वदि १३ (ऋषभ मोक्ष कल्याणक)	जन्म कल्याणक-चैत्र शुदि १३	
२ चतुर्दशी	(मेरु त्रयोदशी)	दिक्षा " मार्गशीर्ष वदि १०	
२ पुनम अमावस	चैत्र (गुज. फाल्गुन) वदि-८ वर्षीतप प्रारंभिक (ऋषभ जन्म-दिक्षा कल्याणक)	केवलज्ञान " वैशाख शुदि १०	
		मोक्ष कल्याणक दिपावली	पर्युषण अट्ठई
कुल १२ तिथि			

चौमासी-एकादशी और चौमासी-चतुर्दशी को उपवास, पौषध, चौमासी देववन्दन आदि किए जाते हैं । आराधक आत्माओं को (पक्खी पाक्षिक) चतुर्दशी के दिन उपवास, चौमासी-चतुर्दशी के दिन छट्ठ (बेला), तथा संवत्सरी के दिन अट्ठम (तेला) अवश्य करना चाहिए । चौमासी चतुर्दशी के छट्ठ (बेले) की शक्ति न हो तो एकादशी और चतुर्दशी के दिन पृथक्-पृथक् उपवास करके भी चौमासीपर्व का तप पूरा हो सकता है ।

कार्तिक सुदि प्रतिपदा को प्रातः नवीन वर्ष का प्रारंभ होने से पूरा वर्ष धर्म के रंग में धर्म-साधना से तथा सुंदर चित्त-समाधि से व्यतीत हो इस उद्देश से नवस्मरण व गौतम-रास का श्रवण करना। फिर चैत्य परिपाटी व स्नात्र-उत्सव के साथ प्रभु-भक्ति विशेष रूप से करनी ।

कार्तिक सुदि ५ :- 'सौभाग्य पंचमी है ।' इस दिन ज्ञान की आराधना के लिए उपवास-पौषध, ज्ञान-पंचमी के देववन्दन, ज्ञान के ५१ लोगस्स का कायोत्सर्ग, 'नमो नाणस्स' की २० माला से २००० जप आदि किया जाता है ।

मार्गशीर्ष सुदि-११ :- यह मौन एकादशी है । अतः सारा दिन और रात मौन रखकर उपवास के साथ पौषध करना । मौन एकादशी का देववंदन तथा उस दिन हुए ९० भगवान के १५० कल्याणक की १५० मालाओं का जाप करना ।

पोष दशमी यानी वदी १० (गुजराती मार्गशीर्ष वदि-१०) यह पार्श्वनाथ प्रभु का जन्म कल्याणक दिन है । भवी लोक अट्ठम से आराधना करते हैं । न बन सके तो तीन आयंबिल से । अथवा अगले दिन सक्कर के पानी का एकासन, दशमी के दिन खीर का एकासन, और ग्यारस के दिवस चालू एकासन । फिर प्रतिमास वद-१० के दिन एकासन या आयंबिल तप करते हैं । पार्श्वनाथ प्रभु की स्नात्र-महोत्सव से भक्ति, त्रिकाल देववन्दन, 'ॐ ह्रीं पार्श्वनाथ अर्हते नमः' की २० माला गिननी ।

माघ वदि १३ :- (पोष वदि १३ याने मेरुतेरस) यह इस युग के प्रथम धर्मप्रवर्तक श्री ऋषभदेव प्रभु का मोक्ष गमन का दिवस है । इस दिन उपवास करके पांच मेरु की रचनाकर तथा घी के दीपक जलाकर 'ॐ ह्रीं श्री ऋषभदेव पारंगताय नमः' का २००० (याने २० माला) जाप किया जाता है ।

चैत्र वदी ८ :- (गुज० फाल्गुन वदि ८) ऋषभदेव प्रभु का जन्म और दीक्षा कल्याणक का दिन है । इसके अगले १ या २ दिन से बेला अथवा तेला करके वर्षीतप शुरु किया जाता है । इस में एकान्तर से 'उपवास' व 'बियासना' लगातार चलते है । बीच में यदि १४ (चौदस) आ जाए तो उपवास ही करना होता हैं । चौमासी चौदस को बेला । इस प्रकार लगातार करते हुए दुसरे वर्ष की वैशाख सुदी २ तक यह तप जारी रहता है ।

वैशाख सुदि :- ३ 'अक्षय तृतीया' के दिन वर्षीतप का केवल गन्ने के रस से पारणा किया जाता है । ऋषभदेव प्रभु ने तो निरन्तर केवल चउविहार उपवास लगभग ४०० दिन किए थे । श्रेयांसकुमार ने वैशाख सुदि ३ प्रभु को पारणा कराया था । वर्षीतप इस तथ्य का सूचक है ।

वैशाख सुदि ११ :- महावीर प्रभु ने पावापुरी में शासन की स्थापना की थी । ११ गणधर दीक्षा, द्वादशांगी- आगम की रचना तथा चतुर्विध संघ की रचना, यह सब इस दिन हुआ । इस 'शासन स्थापना' दिन की उपासना समूहरुप में सकल संघ में होनी चाहिए। (जैसे, आज १५ ऑगस्ट का दिन स्वातंत्र्य-दिन (आजादी-दिन) के रुप में देशभर में मनाया जाता है न?)

कार्तिक ०):- दिवाली के अगले दिन कार्तिक वद १४ को प्रभु महावीरदेव ने प्रातःकाल से धर्म-देशना शुरु की । वह सतत दिवाली कि रात्रि के अंतिम भाग तक अर्थात् १६ प्रहर तक जारी रही । तत्पश्चात् प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया । अतः दो दिन के पौषध से दिवाली पर्व कि आराधना होती है । लोगों ने 'भाव-दीपक गया' इस की स्मृति में द्रव्यदीप जलाए । तब से दिपावली = दिवाली पर्व शुरु हुआ ।

प्रभु के निर्वाण के बाद प्रातःकाल गौतम स्वामीजी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुइ । छट्ठ करके दिवाली कि रात के पहले भाग में

'श्री महावीर स्वामी सर्वज्ञाय नमः' की २० माला गिननी । पिछ्ली रात्रि में वीर निर्वाण का देववन्दन कर 'श्री महावीर स्वामी पारंगताय नमः' की २० मालाए गिननी । बाद में श्री गौतमस्वामीजी का देववंदन करके 'श्री गौतमस्वामी सर्वज्ञाय नमः' की २० माला गिननी।

महावीर स्वामी भगवान के पांच कल्याणक दिनः

श्री महावीर स्वामी भगवान के पांच कल्याणकों के दिनों में विशेषतः वरघोडा, सामूहिक वीरगुणगान, पूजा, भावना और तप के साथ उस- उस कल्याणक की २०-२०मालाए गिननी । वर्ष में क्रमशः कार्तिक वदि १० दीक्षा कल्याणक, 'श्री महावीरस्वामी नाथाय नमः' । चैत्र सुदी १३ जन्म कल्याणक 'श्री महावीर स्वामी अर्हते नमः' । वैशाख सुदि १०- केवलज्ञान कल्याणक 'श्री महावीरस्वामी सर्वज्ञाय नमः । अषाढ सुदि ६ च्यवनकल्याण, श्री महावीरस्वामी परमेष्ठिने नमः ।' अमावस को निर्वाण कल्याणक 'श्री महावीरस्वामी पारंगताय नमः' ये मालाएँ गिननी हैं । चोवीस तीर्थंकरो के पाँच कल्याणक के दिनो कि आराधना तप, जप, जिनभक्ति आदि करने से अद्‌भुत लाभ है ।

एक ही दिन में मात्र १ कल्याणक या २ कल्याणक, या तीन कल्याणक अथवा चार या पाँच कल्याणक आ सकते हैं । वहाँ तप में क्रमशः एकासन, नीवी, आयम्बिल, उपवास, व उपवास के साथ एकासन करना । प्रभु का चरित्र पढ़ना, अरिहंत पद कि आराधना

के लिए १२ लोगस्स का काउस्सग्ग, १२ प्रदक्षिणा, १२ खमासमणा, १२ साथिया, त्रिकाल देववन्दन, उभयकाल प्रतिक्रमण, ब्रह्मचर्यपालन आदि करना । यह सब कुछ शक्य न हो, तो कम से कम उस-उस कल्याणक की एक-एक माला गिनकर भी कल्याणक की स्मृति करनी ।

६ अट्ठइः- कार्तिक, फाल्गुन, अषाढ की तीन अट्ठइ के ८ दिन, सुदि १४ तक । २ अट्ठइ चैत्र और आश्विन की सुदी ७ से १५ तक शाश्वती ओली में । और, १ अट्ठइ पर्युषण की, भाद्र. (श्रावण) वद से भाद्रपद सुदि ४ तक, इन छ अट्ठइ पर्वो की आराधना करनी । विशेषतया हरीवनस्पति-त्याग व आरंभ-संकोच आदि करना ।

शाश्वती ओली में विशेषतः नवपद (५ परमेष्ठी तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) की आराधना की जाती है । एक एक दिन एक पद की आराधना । ९ दिनों तक आयंबिल करना होता है । उस उस पद की २० मालाएँ, पद के गुण की संख्या के परिमाण के अनुसार लोगस्स का कायोत्सर्ग, प्रदक्षिणा, खमासमणा तथा साथिया । नौ मन्दिर में नौ चैत्यवंदन करने ।

पर्युषणा में आठों दिन अमारिप्रवर्तन (जीवों को अभयदान) साधर्मिक वात्सल्य, कल्पसूत्र के श्रवण के साथ अट्ठम का तप, बारसा सूत्र का श्रवण, समस्त जीवों को क्षमापना, चैत्य परिपाटी,

तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण, ये विशेष रुपेण करणीय हैं । ?

(२४-ए)
चतुर्मासिक-वार्षिक-जीवन-कर्तव्य

श्राद्धविधि शास्त्र में श्रावक द्वारा दैनिक एवं पर्वसंबन्धी कर्तव्यो के अलावा चतुर्मास, वर्ष ओर जीवन में आचरणीय कर्त्तव्यों की भी नोंध हैं

चातुर्मासिक कर्त्तव्यः- श्रावक को अषाढ़ के चौमासे में विशेष प्रकार से धर्म की आराधना करनी चाहिये । इसके ४ कारण हैं- (i) वर्षाऋतु के कारण जीवों तथा (ii) विकारों की उत्पत्ति विशेष रुप से होती है । अतः जीवदया और विकार-निग्रह का खास ध्यान रखना पड़ता है । (iii) व्यापार-धंधे मंद होने से धर्म का अच्छा अवकाश रहता है । (iv) मुनि महाराज का स्थिर वास होता है । अतः धर्म-कार्य करने की प्रेरणा मिलती है ।

इस हेतु श्रावक को चतुर्मास में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की शुद्धि व वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के नियम लेने होते हैं और आचार अनुष्ठान मार्ग का आदर करना होता है । ग्रहण किये गए १२ व्रत आदि में वैशिष्ट्य करना चाहिए । व्रत ग्रहण न किया हों तो नये व्रत नियमों को लेने चाहिए ।

जैसे की दो अथवा तीन समय जिन पूजा, पूजा में विशेष द्रव्य,

बृहत् देववंदन, स्नात्र महोत्सव, नये-नये ज्ञान का पठन व वांचन । धोने-कूटने-दलने-पीसने आदि में संकोच, प्रासुक जल का पीना, खाने-पीने में सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग आदि ।

इसके अतिरिक्त आंगन, दीवार, स्तम्भ, खाट, लोहे की सीखें, घी-तेल-पानी आदि के भाजन तथा उनके स्थान में एवं अनाज,कोयला, ऊपला आदि सब वस्तुओं में हरी, काइ अथवा चींटी, ढोला, धून आदि जीव उत्पन्न न हो इसलिये स्वच्छता रखनी एवं जीवोत्पत्ति निवारण हेतु चुना व राख आदि का उपयोग करते रहना ।

दिन में दो या तीन बार पानी छानलेना । (i) चूल्हा, (ii) घडौंची (iii) गड्ढे, तथा (iv) चक्की पर, तथा (v) मथने, (vi) सोने, (vii) नहाने, और (viii) भोजन करने के स्थानों पर, (ix) मन्दिर और (x) पौषधशाला में ऐसे १० स्थानो में चंद्रोवा बांधना । ब्रह्मचर्य पालना । बाहरगांव जाने का त्याग/दातुन जूतों आदि का त्याग । खोदने के काम, रंगने के काम, गाड़ी चलाने आदि बडे आरम्भ-समारम्भ के पाप-कृत्य बन्द करने ।

पापड़, वड़ियां आदि तथा सूखे साग-भाजी, जिनमें काइ एवं सूक्ष्म जीवों कीं उत्पत्ति का संभव है, उनका त्याग तथा नागरवेल के पान, छुहारे आदि का त्याग, फाल्गुन १५ से खारेक खजूर आदि त्याग होता है ।

१५ कर्मादान तथा अधिक आरम्भ-समारम्भवाले कठोर कर्मो का

त्याग करना । स्नान करने तथा तेल आदि की मालिश इत्यादि में भी प्रमाण नियम करना । यथाशक्ति उपधान तप, वर्धमान आयंबिल तप, संसार तारण तप, उपवास आदि तपश्चर्या विशेषतः करनी । रात्रि में चउविहार, दुखियों की सहायता इत्यादि चातुर्मासिक कर्त्तव्य करणीय हैं ।

वार्षिक कर्त्तव्य-११-

१. संघ पूजा, २. साधर्मिक भक्ति, ३. यात्रा त्रिक, ४. स्नात्र, ५. देवद्रव्य वृद्धि, ६. महापूजा, ७. रात्रि जागरण, ८. श्रुतपूजा, ९. उद्यापन, १०. प्रभावना, ११. शुद्धि ।

श्रावक को इन ११ कर्त्तव्यों का पालन प्रतिवर्ष करना चाहिए । इनमें रथयात्रादि कुछ कार्य अगर एक व्यक्ति से न किया जा सकता हो, तो उन्हें सामूहिक चन्दें मे भाग देकर करने चाहिए । इनका विवरण इस प्रकार है-

१. संघ-पूजा :- संपत्ति के अनुसार साधु-साध्वी की वस्त्र-पात्र-पुस्तक आदि से भक्ति, तथा श्रावक-श्राविका की मिलनी आदि से भक्ति (सन्मान) करना । अलबत्ता साधु- साध्वीजी महाराजों को चौमासे में वस्त्र-पात्रादि वहोरना खपता नहीं है किन्तु शेषकाल में खपता है ।

२. साधर्मिक-भक्ति :- श्रावक-श्राविका को आमन्त्रण पूर्वक घर लाकर स्वागत, विनय आदि करके मान पूर्वक भोजन कराना, मिलनी-

प्रभावना करनी । वे यदि दुःखी हों तो उनका धनादि से उद्धार करना, धर्म-कर्म की सुविधा देनी, उन्हें धर्म में स्थिर करना । भूल करनेवालें को उदार हृदय से क्षमा देनी, भूल से बचाना, सन्मार्ग में प्रोत्साहित करना, हार्दिक वात्सल्य रखना.... ।

३. यात्रा-त्रिक :- (i) अष्टान्हिका यात्रा (अट्ठई महोत्सव), गीत-वाद्य-अंग रचना से एवं उचित दान आदि से जिनेन्द्र-भक्ति । (ii) रथयात्राः- भगवान को रथ में बिराजमान करके ठाठ समारोह पूर्वक वरघोड़ा । (iii) तीर्थयात्राः-शत्रुंजयादि तीर्थ की यात्रा ।

४. स्नात्र-महोत्सव :- प्रतिदिन अथवा यह शक्य न हो तो पर्व के दिन, मास के प्रारम्भ में, अथवा अनन्तोगत्वा बडे समारोह के साथ वर्ष में एक बार प्रभु का स्नात्र महोत्सव संपन्न करना ।

५. देवद्रव्य वृद्धि :- बोलियों द्वारा देवद्रव्य में वृद्धि करनी अथवा प्रतिमाजी के लिए आभूषण, पूजा-साधन, नगद दान आदि द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि करनी । यहाँ एक खयाल अवश्य रखना कि बोली बोलने के बाद तुरन्त पेमेन्ट कर देना, क्योंकि बोली ली तब से उतनी रकम हमारे घर में देवद्रव्य की हो गई । वह हमारे व्यापारादि में काम आएगी, इससे हमें देवद्रव्य भक्षण का पाप लगेगा ।

६. महापूजा :- प्रभु की विशिष्ट अंगरचना, आसपास शोभा शृंगार, मंदिर सजाना आदि करना । वर्ष में एकबार तो जरूर करना ।

७. रात्रि जागरण :- उत्सव के अवसर पर अथवा गुरुनिर्वाण आदि

के प्रसंग पर रात के समय धार्मिक गीत-गान आदि से जागरण ।

८. श्रुत पूजा :- शास्त्र-पुस्तको की पूजा, उत्सव, शास्त्र लिखवाना, छपवाना, ज्ञानभंडार का संरक्षण आदि ।

९. उद्यापन :- नवपद, वीसस्थानक आदि तप की पूर्णाहुति के निमित्त, अथवा अन्य प्रसंग पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरणों का प्रदर्शन-समर्पण ।

१०. तीर्थ प्रभावना :- विशिष्ट पूजा-वरघोडे-पदप्रदान आदि के उत्सव, गुरु का भव्य प्रवेश-महोत्सव आदि बडे ठाठ व अनुकंपा करने द्वारा लागों में जिनशासन की प्रभावना करनी ।

११. शुद्धि :- सामान्यत :- जब दोष लगे तभी अथवा प्रति पक्ष, प्रति चातुर्मास, अथवा आखिर में वर्ष में एक बार गुरु के समीप पाप की शुद्धि करनी । अर्थात् गुरु के समक्ष बालभाव से दोष-भूल प्रकट कर यथाशक्ति प्रायश्चित्त लेना, और उसे वहन करना ।

१८. जीवन-कर्तव्य तथा ११ प्रतिमा (विशिष्ट नियम)

गृहस्थ को समस्त जीवन में एक बार तो ये १८ कर्तव्य पालने योग्य है,-

१. चैत्य अर्थात् जिन-मन्दिर बनवाना । इसके लिए द्रव्य-शुद्धि,

भूमि-शुद्धि, शुद्ध सामग्री, कारीगरो व मजदूरों के प्रति उदारता, प्रामाणिकता, शुद्ध आशय तथा यतना (जीवजयणा) का पूरा लक्ष रखना, कारीगरों का मनमाना वर्तन आदि से भावोल्लास बढ़ाना आदि ।

२. विधि पूर्वक जिन प्रतिमा को ठाठ से भराना ।

३. उनकी समारोह पूर्वक प्रतिष्ठा करवाना ।

४. पुत्रादि को आडम्बर पूर्वक दीक्षा दिलाना ।

५. गुरुओं की गणि, पंन्यास, उपाध्याय, आचार्य आदि की पद वीयों का उत्सव करना ।

६. शास्त्र लिखवाना, उनकी वाचना करानी ।

७. पौषधशाला का निर्माण करवाना ।

(८-१८) श्रावक की ११ प्रतिमा (विशेष अभिग्रह) को धारण करना । ११ प्रतिमा में सम्यक्त्व आदि ११ कठोर अभिग्रह का क्रमशः पालन करना होता हैं । १ दर्शन, २ व्रत, ३ सामायिक, ४ पौषध, ५ कायोत्सर्ग, ६ ब्रह्मचर्य, ७ सचित-त्याग, ८ आरम्भ त्याग, ९ प्रेष्य (नौकर) का त्याग, १० उद्दिष्ट (अपने निमित्त बने) आहारादि का त्याग, ११ श्रमणभूत प्रतिमा ।

इन प्रत्येक को क्रमशः- पहली की एक मास, दूसरी की दो मास, तीसरी की तीन मास, इसी प्रकार ग्यारहवीं की ग्यारह मास

तक आराधना करना । उत्तरोत्तर प्रतिमा के पालने के समय पूर्व की प्रतिमाओं का भी पालन करना होता है । कार्तिक शेठ ने १०० बार इनका पालन किया था ।

इसके अतिरिक्त 'धर्मबिन्दु' शास्त्र में कथित अनेक गुणों का पालन एवं श्री 'पंचसूत्र' के दूसरे सूत्र में वर्णित आत्म परिणतियों व विधानों का भी पालन करना होता है । चारित्र के योग्य १६ गुण प्राप्त करने चाहिए । इससे साधुधर्म लेने की योग्यता आती है ।

(२७)
श्रावक के व्रत - नियम

श्रावक की दिनचर्या में प्रातः पच्चक्खाण (नियम) करने का उल्लेख किया गया है । व्रत और नियम जीवन का अलंकार है । ये पाप और प्रमाद की वृत्ति पर अंकुश लगाकर जीवन को इस प्रकार सुशोभित करते हैं की पुण्य और सद्गति उसकी और आकृष्ट हो जाती हैं । व्रत-नियमों का यह प्रभाव होता हैं कि जब तक ये चालू रहते हैं तब तक पाप की अपेक्षा दूर रहने से पाप-कर्मो का बन्ध (बन्धन) रुक जाता है, पाप क्षय और पुण्य बन्ध चालू रहते हैं ।

हम पहले देख चुके हैं कि हम पाप नहीं आचरते है फिर भी

यदि नियम न हो, विरति न हो, तो दिल में पाप की अपेक्षा खड़ी रहने के कारण आत्मा पर कर्म चिपकते रहते हैं । नियम करने से ये रुक जाते हैं; और मन भी बन्धन में आ जाने के कारण भविष्य में जहाँ तक नियमो की समय मर्यादा पहुँचती है वहाँ तक पाप-सेवन का मन नहीं होता है । मन नियमवश पाप- सेवन नही करना चाहता । इस प्रकार पाप त्याग निश्चित हो जाने से शुभ भाव और शुभ प्रवृत्ति के द्वार खुल जाते हैं, उन्हें अच्छा अवकाश प्राप्त होता है । 'विरति' का महत्त्व जैन दर्शन में ही मिलता है । हम यहाँ नियमों का वर्णन तीन प्रकार से करेंगे

१. पच्चक्खाण, २. चौदह नियम, व ३. चौमासे व जीवन के नियम ।

१. पच्चक्खाण :- पच्चक्खाण से यहां तात्पर्य है दिन और रात के अन्न-पानी के त्याग के भिन्न भिन्न नियम । जीव को अनादि काल से आहार संज्ञा यानी खानपान की जटिल आदत है । यह ऐसी धिरी है, वचक है कि ध्यान न रखने पर उपवास का पच्चक्खाण होने पर भी आहार का विचार आ जाता है । आहार संज्ञा के कारण-

(i) कहीं भी जन्म लिया कि तुरन्त ही सबसे पहली बात खाने की !

(ii) आहार संज्ञा के पाश में अनेक व्यक्ति धर्म-ध्यान तथा त्याग-तप से विचलित हो जाते हैं । अतः आहार संज्ञा में कमी करते

रहना चाहिए । स्थिरता, त्याग-तप, धर्म की आराधना करते हुए आहारसंज्ञा दब आती है और आगे बढते हुए अन्त में वह सर्वथा नष्ट हो जाने से आत्मा का स्वभाव 'अनाहारीपन' - प्रगट हो जाता है ।

आहार के चार प्रकार हैः- अशन, पान, खादिम और स्वादिम । (i) जिन पदार्थो से पेट भरता है; वे अशन हैं । जैसे कि अन्न, मिठाई, दूध, दहीं आदि । (ii) पान में पानी का समावेश है । (iii) खादिम में फल, होलां,चाट, सिके हुए, भुने हुए पदार्थ आते हैं । (iv) स्वादिम में मुखवांस, मसाला, औषधि आदि गिने जाते है । इनका अनेक प्रकार से त्याग किया जाता है ।

इन चार के अतिरिक्त कुछ कड़वी या स्वादरहित दवाइयां और भस्म आदि होते है, जिन्हें 'अनाहारी' द्रव्य कहते हैं । ये रोग पीड़ा के विशेष कारणवश पच्चक्खाण के काल में भी खप जाते हैं । किंतु यदि उनके साथ पानी लिया जाय तो वे आहाररूप बन जाते हैं । अतः पच्चक्खाण में इन्हें पानी के बिना ही लिये जाते हैं ।

ऐसी अनाहारी वस्तुओं में कुटकी (एक वनस्पति), चिरायता, इन्द्रजव, कडवी नीम, त्रिफला, राख, भस्म आदि का समावेश है ।

आहार का पच्चक्खाण चार प्रकार का होता हैः-

(१) दिन का, (२) रात का, किसी (३) संकेत से, या उपद्रवादि

के प्रसंग का, (४) अंतकाल में जीवित रहे वहां तक का पच्चक्खाण ।

१. दिन के पच्चक्खाण में सूर्योदय से लेकर दो घड़ी तक चारों प्रकार के आहार का त्याग रखने के लिए 'नवकारशी' पच्चक्खाण किया जाता है । सूर्योदय से १ प्रहर (१/४ दिनमान) तक का आहार-त्याग यह 'पोरिसी' पच्चक्खाण है । 'सार्ध पोरिसी' पच्चक्खाण में १।। प्रहर, पुरिमड्ढ' में २ प्रहर (आधा दिन), 'अवड्ढ' में तीन प्रहर तक चारो प्रकार के आहार का त्याग रहता है ।

इस पच्चक्खाण के पूरा होने पर मुट्ठी वालकर नवकार गिनकर ही खाना-पीना शुरू किया जाता है । क्योंकि इस पच्चक्खाण के साथ 'मुट्ठि सहियं' पच्चक्खाण होता है । इसका अर्थ है कि जब तक मुट्ठी वाल कर नवकार न गिनूं तब तक चारों आहार का त्याग है । 'दिन में बारंबार अकेले यह मुट्ठीसहियं पच्चक्खाण करने से भी अनशन का बहुत लाभ मिलता है । एक महिने में कुल 'मुट्ठीसहियं' पच्चक्खाणों के घंटे गिनने पर २५ से ऊपर उपवास का लाभ होता है ।'

इसके अतिरिक्त शुक्ल और कृष्ण पक्ष की दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या - इन बारह तिथियों में विशेषकर, बेआसन, एकासन नीवी, आयंबिल, उपवास आदि तपस्या-तप किये जाते हैं ।

बेआसन में सारे दिन में दो बैठक से अधिक बार भोजन नहीं

किया जाता, शेष समय में चार आहार का या पानी को छोड़कर तीन आहार के त्याग का पच्चक्खाण रहता है । एकासन में दिन में केवल एक बैठक में ही आहार लिया जाता है । शेष दिन में तीन आहार का और रात में चारों आहार का त्याग रहता है ।

रूक्ष नीवी - एकासन में दूध, दहीं, घी, तेल, गुड़ और कढ़ाई में तले हुए पदार्थ आदि इन ६ विगइ का त्याग तथा फल, मेवा, हरे शाक का त्याग होता है यह रुक्ष नीवी है ।

आयम्बिल में इन पदार्थो के अलावा हल्दी लाल-मिर्च, कोकम (बाकड़ी), इमली, राई, धनिया, जीरा आदि मसाले का भी त्याग किया जाता है । दूसरे शब्दों में, पानी में पकाये हुए रुक्ष भात, रुखी रोटी, रुखी दाल आदि से एकासना करना होता है ।

उपवास में दिन और रात के लिए भोजन का त्याग होता है । दिन में अगर लेना हो तो केवल उबाला हुआ (प्रासुक गर्म) पानी लिया जा सकता है ।

बेआसन से लेकर उपवास तक के तप में पानी केवल तीन उबाले वाला ही उपयुक्त हो सकता है । अधिक तप करना हो तो एक साथ दो उपवास अर्थात् छट्ठ (बेला), तीन उपवास अर्थात् अट्ठम (तेला), ४, ५, ६, ७ उपवास, ८ उपवास (अट्ठाई) आदि किए जाते हैं । इसी प्रकार 'वर्धमान आयंबिल तप', 'नवपद की ओली' का तप, 'बीस स्थानक तप', 'ज्ञान पंचमी तप', '२४ भगवान

के एकासन', 'पंच कल्याणक तप' आदि की आराधना की जाती है ।

२. रात्रि के पच्चक्खाण में :-

दिन में छूटे हो तो रात्रि के लिए चउविहार, तिविहार आदि किए जाते हैं । 'चउविहार' अर्थात् सूर्यास्त से पहले से लेकर रात भर के लिए चारों आहारों का त्याग । 'तिविहार' अर्थात् पानी के अतिरिक्त तीनों आहार का त्याग । 'दुविहार' में अशन, खादिम इन दो आहार का त्याग । बेआसन आदि तप में तो सूर्यास्त से पूर्व 'पाणहार' का पच्चक्खाण लिया जाता है । दिन में जिसकी छूट है ऐसा पानी भी बंद किया जाता है । पानी भी अब नहीं लिया जाता है ।

१४ नियम :-

(अर्थात् पल में पाप के उस पार) प्रतिदिन के जीवन में संसार के समस्त पदार्थो का उपयोग नहीं किया जाता है । फिर भी यदि उपयुक्त न होने वालें पदार्थो का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग न किया हो, अर्थात् विरति नहीं, अविरति हो, तो इनके विषय में जीव को पाप बंधन जारी रहता है । अतः उपयोग में आने वाली संभवित वस्तुओं को छोडकर शेष वस्तुओं के त्याग का नियम किया हुआ हो तो हम ढेर कर्म बन्धन से बच जाते हैं ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रातः दिनभर के लिए और शाम को रात भर के लिए १४ नियम किए जाते हैं । मात्र बारह घंटे के इन नियमों में कोई कठीनाई नहीं है । १४ नियम तप करने का अभ्यास हो जाने के पश्चात् १४ नियम तप करने का कार्य एक-दो मिनिट का, या एक पल का कार्य होता है और ढेर पापों से छुटकारा मिल जाता है । अर्थात् हम पल में पाप के उस पार पहुंच जाते हैं । जिन का उपयोग संभव नहीं ऐसे पदार्थों की आशा छोड देने का अति महान लाभ १४ नियमो से मिलता है । नियम लेने से सत्त्व विकसित होता है ।

१४ नियम की गाथा :-

"सचित-दव्व-विगइ, वाणह-तंबोल-वत्थ-कुसुमेसु ।

वाहण-सयण-विलेपण,बंभ-दिसी-न्हाण-भत्तेसु ।।"

१. सचित्त (सजीव):- 'सजीव कच्चा पानी, कच्चा शाक, नमक, दातुन, हरे फल आदि में से आज के दिन अमुक संख्या से; जैसे कि तीन से अधिक का उपयोग नहीं करूं' - ऐसा नियम । उबला हुआ पानी, दो घड़ी पश्चात् शरबत, त्रिफला का पानी, रांधा पका हुआ शाक, पका भुना हुआ नमक, तथा कटे हुए फल, अथवा फल से निकला हुआ रस, दो घड़ी बाद अचित्त होते है, सचित्त नहीं ।

२. द्रव्यः- 'दव्व = द्रव्य' भिन्न भिन्न नाम और स्वाद वाली चीजें । आज ५ अथवा १०, १२, १५ आदि से अधिक द्रव्य नहीं खाऊंगा । मसाले इकट्ठे पकाये हुये ये एक द्रव्य है, किन्तु ऊपर से लिये जाने वालें घी, तेल, मिर्च, नमक, चीनी आदि अलग द्रव्य गिने जाएँगे ।

३. विगइ :- दुध, दही, तेल, घी, गुड़, शक्कर, तले हुये पदार्थ, इन छः विगइयों में से आज अमुक के त्याग की प्रतिज्ञा । विगइ के दो विभाग हैं:-

(i) कच्ची विगइ :- ठंडा या गरम १ दूध, २ दही, छाछ, ३ घी, ४ तेल, ५ गुड़ और ६ एक-दो या तीन घान वाली तली हुयी वस्तुएँ ।

(ii) पक्की विगइ (नीवियातु) :- यह कच्ची विगइ का रूपान्तर है । जैसे कि (१) दूध में-दूध की चाय, मावा, दूध की चीज, रबडी, दूधपाक, खीर आदि (२) दही-छाछ में-कढी, वड़ा, दही मिला हुआ शाक, श्रीखंड, रायता आदि । (३-४) घी तेल में तीन घान तलने के बाद बचा हुआ घी तेल, तथा घी, तेल में छौंका हुआ शाक आदि । (५) गुड़ की पक्की हुइ विगइ, शक्कर, पतासा, खांड, तथा रसोई में डाला हुआ गुड़, घी विगइ । दूसरे दिन पका हुआ गुड़ और पका हुआ घी विगइ ।

४. जूते :- 'एक दो जोड़े से अधिक प्रयुक्त न करुं । चप्पल,

जुराब इसमें शामिल हैं ।'

५. तंबोल :- 'पान, सुपारी, सौंफ आदि अमुक संख्या या वजन से अधिक का उपयोग न करुं' ।

६. वस्त्र :- 'आज अमुक संख्या से अधिक वस्त्रों का उपयोग नहीं करूंगा ।'

७. कुसुम :- इसमें फूल, अत्तर आदि सूंघने का प्रमाण नियत किया जाता है ।

८. वाहण :- घूमते, चलते, तैरते का परिणाम । (i) घूमने में घुमने वालें लिफ्ट, गाडी, मोटर, सायकल; (ii) तैरने वालें में नाव-प्लेन-जहाज; (iii) चलने वालें में अश्व, ऊँट, हाथी आदि अमुक संख्या से अधिक का त्याग ।

९. शयन :- बिस्तरे, खाट, पलंग, कुर्सी आदि का प्रमाण । (जहां सो जाऊँगा उसी को शयन में गिनूंगा ।' ऐसा धारने से जहां बैठे यह नहीं गिना जाता ।)

१०. विलेपन :- साबुन, वैसलीन, तेल आदि के उपयोग का प्रमाण धारना ।

११. ब्रह्मचर्य :- दिन में काया से संपूर्णतः पालने की प्रतिज्ञा, रात्रि में अमुक तिथि पालन की प्रतिज्ञा ।

१२. दिशा :- 'आज चारों दिशा व उपर नीचे इतने मील से बाहर नहीं जाऊंगा ।'

१३. स्नान :- संपूर्ण स्नान एक या दो बार से अधिक नहीं करूंगा ।' असामान्य प्रसंग में १-२ बार की छूट ।

१४. भात पानी :- जैसे कि १० रतल (पौंड) से अधिक नहीं खाऊंगा, पीउंगा ।

इन १४ नियमों के साथ बाहरी उपयोग में आने वाली रंभ-समारंभ की कुछ वस्तुओ के नियम लिये जाते है । जैसे कि, आज पृथ्वीकाय में मिट्टी, साबुन, सोडा, खार अमुक प्रमाण से अधिक को उपयोग में नहीं लाऊंगा । इसी प्रकार अप्काय में १-२-३-४ बाल्टी से अधिक पानी नहि वापरुं । अग्निकाय में आज के १, २ ,३ चूल्हों से अधिक में बनी हुई वस्तु नहीं वापरुं । वायुकाय में १, २, ३ झूले या पंखों से अधिक का उपयोग नहीं करुं, तथा वनस्पतिकाय में लेप आदि के लिए अथवा खाने में सब्जी, भाजी आदि अमुक प्रमाण से अधिक का उपयोग नहीं करुंगा । त्रसकाय - निरपराधी चलते फिरते जीवों को जानबूझ कर, निरपेक्ष रूप से नहीं मारुंगा । (निरपेक्ष = सामने वाले जीव की मृत्यु या अंग भंग होने की परवाह नहीं ।)

'असि' में चाकू, कैंची, सुरौता, सुई आदि, 'मषी' में श्याही, दवात, चाक, कलम आदि । 'कृषि' में रंभा, कुल्हाड़ा, कुदाल पावड़ा आदि । इनमें अमुक से अधिक का उपयोग नहीं करुँगा ।

शाम के समय नियमों के विषय में इस प्रकार समेटना कि इतना प्रमाण नियत किया था, व इतने का उपयोग किया । अब रात्रि के लिए नियम धार लेना है ।

अन्य नियम भी किये जाए जैसेकि अल्प संयोग होने पर भी गुरुवंदन, व्याख्यान-श्रवण स्वाध्याय आदि न करुं तो अमुक त्याग करुंगा । बाहर में मर्यादा से अधिक क्रोध, अभिमान दिखाया जाए तो घी का त्याग अथवा पांच द्रव्य से अधिक उपयोग का त्याग ।

झूठ बोला जाए तो धर्म (शुभ) खाते में चवन्नी दूंगा ।

एक मास में इतने बेआसने, एकासने, आयंबिल, उपवास करुंगा । प्रतिदिन, अथवा तिथियों के दिन या घर में प्रासुक पानी ही पीऊंगा ।

वर्धमान आंबेल तप का पाया-ओली, ९९ यात्रा, उपधान आदि न करुं तब तक कच्चे गुड़ अथवा अमुक पदार्थ का त्याग ।

जब तक दीक्षा न लूं तब तक अमुक वस्तु का त्याग एवं 'नमो चरित्तस्स' की एक माला फेरना ।

वर्ष में एक तीर्थयात्रा, धर्म खाते में - - - रु० का व्यय, इतनी सामायिक, इतनी मालायें, न हो तो - - दण्ड । पर्व-तिथियों में हरी वनस्पति, सचित्त, कूटने, दलने, वस्त्र धोने आदि का त्याग, तथा ब्रह्मचर्य ।

चातुर्मास के नियमः-

चोमासे में (i) जीवोत्पत्ति अधिक होती है तथा (ii) विकार प्रबल हो जाते है, एवं (iii) व्यापार धंधे मंद होते है, तथा (iv) प्रायः गुरू-महाराज का संयोग रहता है, अतः धर्म कृत्यों का मौसम है । अतः इन दिनों विशेष नियम लिये जाते हैं । १८ देशों के राजा कुमारपाल चातुर्मास में प्रतिदिन एकासना, घी के अतिरिक्त पाँच विगइ का त्याग, हरे शाकफल का त्याग, चार महीने ब्रह्मचर्य, पाटण से बाहर न जाना... आदि नियम रखते थे । इस प्रकार यथासंभव नियम ले लेने चाहिये ।

जैसे कि, किसी की मृत्यु अथवा आकस्मिक घटना को छोड़कर नगर या गांव से बाहर नहीं जाना । शहरों में भी रात को घुमने के लिए नहीं जाना । इतने...दिनों में आयंबिल आदि, पौषध, प्रतिक्रमण, सामायिक करूंगा । पूर्णतः अथवा इतने दिनों के लिए हरीवनस्पति का त्याग, अहिंसादि अणुव्रत, इतनी विगइ का त्याग आदि ।

आजीवन नियम :-

कुछ नियम जीवनभर के लिये किये जाते हैं, जैसे कभी खेती नहीं करुंगा, बड़ी मशीनों के कारखाने का धंधा नहीं करुंगा, सात व्यसनों का त्याग करुंगा, मिथ्या देव-गुरु-धर्म को न मानूंगा, न पूजा करुंगा । परस्त्री गमन नहीं करूंगा । अमुक उम्र के बाद ब्रह्मचर्य

का पालन करुंगा । घर में मोटर, गाडी, पशु, रेडियो, श्रृंगारात्मक चित्रादि नहीं रखूंगा-ऐसे अनेक प्रकार के त्याग के नियम लिए जा सकते हैं । श्रावक धर्म के स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य.... इत्यादि बारह व्रत भी धारण किये जा सकते हैं ।

(२६)
अभक्ष्य और कर्मादान

अभक्ष्य पदार्थों को खाये बिना भी जीवन चल सकता है । (i) इनको खाने से इन में विद्यमान बहुत जीवों की हिंसा होती है । (ii) इससे बहुत सा पाप लगता है; व (iii) कुसंस्कार पडते हैं । वे विकार भी उत्पन्न करते हैं । अतः अभक्ष्य का तो जीवनभर के लिए त्याग होना चाहिए । ऐसे अभक्ष्य पदार्थ २२ हैं । वे ये हैं, - (१) रात्रि भोजन,

(२-५) चार महाविगय (मांस, मदिरा, मधु, मक्खन) में उसी वर्ण के असंख्य जीव पैदा होते हैं । इस बात को दूसरे धर्म वालें भी मानते हैं । अन्डा खून की गोलियां, कोडलीवर ओईल, हेमोग्लोबीन, लीवर एक्ट्रेक्ट के इंजक्शन, ...आदि भी मांस में गिने जाते हैं । मधु में मक्खी अपवित्र पदार्थ भरती है, व असंख्य उड़ते जीव चिपककर मर जाते हैं । तथा मधु को प्राप्त करने में कई भवरियाँ कुचली जाती है । मक्खन में सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते है ।

(६-१०) उदुंबर, पंचक-बड़, पीपल, पारसपीपल, गुलर, प्लक्ष, कालुम्बर के फल (टेटे),-इन में बहुत कीडे होते हैं । (११-१९) बर्फ, ओला (करा), अफीण आदि विष, सर्व मिट्टी... आदि अभक्ष्य है ।

बेंगन, खसखस, अंजीर आदि अंतर रहित बहुबीज होने से अभक्ष्य हैं । बेर, तुच्छफल-जामुन, गुन्दा, महुडा, कोमल सींग आदि तुच्छफल होने से तथा अनजाने फल अभक्ष्य है । चलित रस-जिसका रस, वर्ण, गंध, स्पर्श विकृत हुआ हो वे अभक्ष्य हैं; जैसे कि-बासी अन्न-रोटी-नरम पूडी, बासी मावा, दो रात्रि के बाद का दहीं-छाछ, अपक्व दहीं,-ये अभक्ष्य हैं । बिगडा हुआ मुरब्बा - आचार-मिठाई अभक्ष्य हैं ।

ऋतु	मिठाई और आटे का काल
सर्दी में	१ महिना
गरमी में	२० दिन
चातुर्मास में	१५ दिन

बाद में ये अभक्ष्य होते हैं । 'द्विदल' यानी गर्म किये बिना कच्चा दूध-दही-छाछ के साथ संयुक्त द्विदल (कठोल), इस में संयोग होते ही असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । फाल्गुन चौमासी के बाद भाजी, खजूर, खारेक, तिल, चातुर्मास में मेवा, सूका नारयल

का गोला (फक्त काष्ठ के कवच में से बाहर निकाली हुई बादाम-पिस्ता-अखरोट-नारयल उस दिन ही भक्ष्य हैं, दूसरे दिन अभक्ष्य है ।) संवान-धूप दिये बिना या पक्की चासनी किये बिना के आचार (अथाने) अभक्ष्य है । बर्फ, आईस्क्रीम, कुल्फी आदि भी अभक्ष्य है ।

अनंतकाय-जमीनकंदः- पालख की भाजी, रतालु, कच्ची इमली, कातरे, भीगे मूंग में से फूटे कोमल अंकुर, अमृतवेल, सुरण, गाजर, शक्कर कंद, लहसून, आलू, प्याज, हरी अद्रक, हरी हल्दी, हरा मोथ, मूली, भूमि फोडे बिल्ली का टोप आदि ।

कर्मादान १५ प्रकार के हैं

१५ कर्मादानः- श्रावक को महारम्भ अथवा महापाप के व्यापार-धंधे नहीं करने चाहिए । इन में भारी कर्मबन्ध होता है; जैसे कि, ५ कर्म + ५ वाणिज्य + ५ सामान्य, ये १५ कर्मादान के व्यापार है ।

५ कर्म :- (१) अंगार कर्म :- लोहा, सुनार; कुम्हार, वेल्डींग, बेकरी, भाडभुंजा, लोज, होटल, इंधन (पेट्रोल) आदि का धंधा । (२) वनकर्म :- वन कटवाने का धंधा, या बाग-बगीचा-सब्जी की वाडी. . . आदि के धंधे । (३) शकट कर्मः- बैलगाडी, छकडा गाडी, मोटर सायकल, स्कूटर आदि बनाने का रीपेअर करने का व्यापार । (४) आरककर्म :- बैलगाडी मोटर सायकल, बस आदि भाडे (किराये) पर देने का धंधा (५) स्फोटककर्मः- भूमि, खान आदि खुदवाने के

धंधे ।

(५) वाणिज्य :- (१) दंत वाणिज्यः- हाथी आदि की हत्या कर प्राप्त दांत, मोती, रेशम, पंख केश आदि । जहाँ उत्पन्न होते है वहाँ से उन्हें खरीद कर बेचने का धंधा । तथा माछीमारी, पोल्ट्रीफार्म, रेवीट खेती... आदि का व्यापार । (२) लाक्षावाणिज्यः- लाख, राल, कोयला, पटाखा, साबून, गुंदर, इंधन आदि का व्यापार । (३) रस वाणिज्यः- मांस, मदिरा, शहद, घी, तेल, कोडलीवर ओईल आदि स्निग्ध चिकनाहट वाले पदार्थों का व्यापार । (४) केशवाणिज्यः- मनुष्य-पशु आदि के अंगोपांग, बाल, पीछा आदि का व्यापार (५) विष वाणिज्यः- संखिया संलल वच्छनाग, तेजाब, हेरोइन, D.D.T. ड्रग्स आदि का व्यापार ।

५ सामान्य :- (१) यंत्र पीलन :- मूसल, चक्की यंत्र आदि से अनाज, बीज, कपास आदि कूटने, पीसने, दलने का धंधा, मिल, जीन, यांत्रिक कारखाना, घंटी आदि का व्यापार, (२) निर्लांछन कर्मः- जीव के अंग काटने, अंकन करने, छेदने आदि का धंधा, (३) दवदान कर्मः- जंगल आदि जलाने, काटने का धंधा, (४) सरशोष कर्मः- तालाव, कुवा आदि सुखाने का धंधा (५) असती पोषणः- दास, दासी, वेश्या, पशु-पक्षी आदि का पालन-पोषण करके इनसे दुराचार कराने का धंधा, या इन्हें बेचने का धंधा; तथा होटल, फिल्म, डीस्ट्रीब्युशन, थियेटर चलाना आदि से धनोपार्जन करने का धंधा । वेश्यादि को

मकान किराये पर देने का धंधा ।

इन १५ कर्मादान में से किसीका धंधा नहीं करना चाहिए ।

सातवें व्रत सें निम्न लिखित नामों के सिवाय की वस्तुओं का त्याग :-

अनाज	सब्जी	फल	मेवा
गेहूँ	दूधी	आम	बादाम
जव	परवल	केला	काजू
बाजरा	ककडी	पपीता	अखरोट
चावल	भिंडी	तरबूज	पिस्ता
मक्का	करेला	अनानस	जायफल
ज्वार	तुरई	संतरा	चारोली
मूंग	टिंडोरा	मोसंबी	जरदालु
उडद	कंटोला	नींबु	किशांमश
चौला	मोगरी	नारियल	खोपरा
वाल	वालोर	सेब	अन्य पांच
मटर	मोगरा	अमरुद	
तुवर	मटर	सीताफल	

मेथी	चोली	गन्ना	
मूंगफली	फणसी	खरबूजा	
कुलथी	कोथमीर	अंगूर	
बंटी	(धनीयाकी	टमाटर	
सांबो	भाजी)	०अन्य दस	
नागली	मेथी भाजी		
रवा	नीम के पत्ते		
मैदा	चदलीया		
रागी	सरगवा		
चना	मर्च		
मसूर	कच्चे केले		
तील	चीमडा		
	पापटी		
	गुवारफली		
	सांगरी		
	कुमटिया		
	गुंदा		
	०अन्य दस		

अष्टम व्रत: अनर्थदंड विरमण व्रत

दुर्ध्यान	अधिकरण (पाप के साधन)	पापोपदेश	प्रमादाचरण
इष्ट वस्तु न जाए	जीव घातक	क्लेश	सिनेमा
इष्ट वस्तु नयी मिले	शस्त्र देना	कलह	टी.वी
अनिष्ट जाये	घंटी	पाप के धंधे	नाटक
अनिष्ट न मिले	अग्नि	हिंसक कार्य	तमाशा
रोग में हाय वोय	हल	हिंसा-झूठ	शृंगारी चित्र
रोग में वैद्य	चाकू	चोरी	प्रदर्शन
औषधि अनुपान	लगुड्	कामोत्पादक वचन	क्रिकेटादि शृंगार
आदि का चिंतन	ओखली	मोह चेष्टा	उपन्यास
पौद् गलिक पदार्थों	दस्ता	वाचालता	नोवेल
की अत्यधिक	मूसल	अत्यधिक तथा	फांसी
आशंसा-अभिलाषा	लकडी	उदूमट मांग	जुआ
हिंसा	साबुन-खारादि		पशुयुद्ध
चोरी	वाजिंत्र		मल्लयुद्ध
झूठ	टी.वी.		ब्ल्यू फिल्म
संरक्षण का घार	केरम		सरकस
चिंतन			जादुगर
			नदी-समुद्र में
			स्नान
			जीवों की
			लड़ाई

मोक्षमार्ग : मार्गानुसारी के ३५ गुण -

जीव अनादि काल से संसार में भटक रहा है, इस में अनंत पुद्गल परावर्त काल व्यतीत हो चुके । अब जब मोक्ष पाएगा उसके पहले वह अपने संसार के जिस अंतिम पुद्गल परावर्त काल में आएगा इसे 'चरमावर्तकाल' कहा जाता है ।

जीव दो प्रकार के है, -१ भव्य, और २ अभव्य । अभव्य वह है जो मोक्षप्राप्ति के बिलकुल अयोग्य है । अतः अभव्य का कभी मोक्ष ही नहीं, तो उसका चरमावर्त काल भी होता नहीं । भव्य जीव का चरमावर्त काल होता है । भव्य वह है जिसे 'मैं भव्य हूँ या नहीं?' ऐसी शंका भी हो । ऐसे भव्य को जब चरमावर्त काल प्राप्त होता है तभी यानी चरमावर्त काल में ही अपनी आत्मा पर दृष्टि जाती है; तभी मोक्षदृष्टि व धर्मरुचि आती है; अचरमावर्त काल में नहीं । जीव अलबत्ता; अचरमावर्त में कष्टमय चारित्र भी लेता है, पालता है, किन्तु वह संसारसुख के आशय से ही । मोक्ष के लिए धर्म तो चरमावर्त काल में ही होता है । यहाँ भी सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्म चरमावर्त के पूर्वार्द्ध में नहीं, किन्तु उत्तरार्द्ध में ही प्राप्त होता है । सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्म है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र । वही सही मोक्षमार्ग है ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए मार्गानुसारी के ३५ गुण बहुत उपयोगी हैं । ऐसा समझे कि अपनी आत्मा एक क्षेत्र है ! इसमें सम्यग्दर्शन स्वरूप मोक्षबीज बोना है, जिससे आगे जा कर हमें

मोक्षफल प्राप्त हो सके । किन्तु बीजारोपण के पहले आत्म-क्षेत्र को मुलायम बनना चाहिए, और वह होता है मार्गानुसारी के ३५ गुणों के जीवन से । कृषि से मुलायम बने क्षेत्र में ही बीजारोपण उपयोगी यानी सफल बनता है, अन्यथा बीज का धरती के साथ मिलान यानी एकमेकभाव ही नहीं बनेगा । फिर वहाँ फल कैसे बैठे? ये ३५ गुण ऐसे है कि वे प्रारंभिक (आदि)धार्मिक को भी जरूरी है, एवं उंचे चढे हुए धार्मिक जैसे कि श्रावक साधु, तक को भी जरूरी है । अन्यथा मार्गानुसारी के एकाध गुण की भी कमी में विरोधी दोष के जरिये जीव का पतन होना संभवित है, उदाहरणार्थ, - महातपस्वी, महावैरागी नंदीषेण मुनि को 'अयोग्य देशकाल चर्या का त्याग' नाम के एक मार्गानुसारी गुण का भंग हुआ तो वे वेश्या के वहाँ ही बैठ गए । इसलिए कहा जाए कि मुनि को भी मार्गानुसारी के गुण पालना जरुरी है ।

मार्गानुसारी-जीवन -

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् - तप द्वारा पूरी-पूरी साधना का अर्थ है मोक्ष का मार्ग । उस मार्ग की ओर अग्रसर होनेवाला, उसका अनुसरण करनेवाला, उसे जीने के लिए सहाय रूप बननेवाला जीवन मार्गानुसारी जीवन कहलाता है ।

शास्त्रों में मार्गानुसारी के ३५ गुण बताए गये हैं । इन गुणों को सरलता पूर्वक याद करने के लिए इन्हें हम यहाँ चार विभागों में विभक्त करते हैंः- जीवन में (१) करणीय ११ कर्तव्य, (२) त्याज्य ८ दोष, (३) अनुसरणीय ८ गुण (४) साधनीय ८ साधना ।

११ कर्तव्य	८ त्याज्य दोष	८ ग्राह्य गुण	८ साधना
१. न्याय-सम्पन्नता	१. निंदा-त्याग	१. पाप-भय	१. कृतज्ञता
२. उचित व्यय	२. निंद्य प्रवृत्ति-त्याग	२. लज्जा	२. परोपकार
३. उचित वेश	३. इन्द्रिय की गुलामी	३. सौम्यता	३. दया
४. उचित विवाह	४. आंतर-शत्रु जय	४. लोकप्रियता	४. सत्संग
५. उचित घर	५. अभिनिवेश-त्याग ।	५. दीर्घ दृष्टि	५. धर्म- श्रवण
६. अजीर्ण में भोजन त्याग	६. त्रिवर्ग बाधा-त्याग	६. बलाबल विचारण	६. बुद्धि के ८ गुण
७. समय पर सात्म्यवाला भोजन	७. उपद्रवपूर्ण स्थान का त्याग	७. विशेषज्ञता	७. प्रसिद्धदेशाचार पालन ।
८. माता-पिता की पूजा	८. अदेश-कालचर्या का त्याग ।	८. गुण-पक्षपात	८. शिष्टाचार प्रशंसा ।
९. पोष्य-पोषण			
१०. अतिथि-साधु-दीन की सत्कारादि			
११. ज्ञानवृद्ध-चारित्रपात्र की सेवा			

११. ज्ञानवृद्ध-चारित्रपात्र की सेवा

११. कर्तव्य -

१. गृहस्थ जीवन में आजीविका के उपार्जन बिना निर्वाह नहीं । उसका उपार्जन न्याय से करना इसे 'न्यायसंपन्न विभव' कहते हैं । अन्य विषयों में भी 'न्याय सम्पन्नता' नाम का पहला कर्तव्य है ।

२. खर्च भी उपार्जित धन के अनुसार करना चाहिए; किन्तु चाहिए उससे अधिक नहीं, या धर्म को भूलकर नहीं । यह 'उचित व्यय' (आयोजित व्यय) नामक दुसरा कर्तव्य है ।

३. पैसे से उद्‌भट (शराबी का, प्रमत्त का) वेश धारण नहीं करना, परन्तु उचित, शोभाप्रद वेश रखना । (साथ में वेश के अलावा दुसरी वस्तु में भी उचित का उपयोग रखना) यह उचित वेश, अनुद्‌भट वेश, नामक तीसरा कर्तव्य है ।

४. उचित घर :- रहने के लिए घर ऐसा न हो कि चोर, बदमाशों को अनुकूल बैठे, या घर में पापों का प्रवेश हो जाए । अर्थात् घर अधिक द्वारोंवाला न हो । बहुत गहराईवाली गल्ली में या जाहिर खुला न हो । एवं पडोश अच्छा हो ।

५. उचित विवाह :- घर चलाने के लिए विवाह करना होगा । वह भिन्न गोत्रवाले व समान कुल तथा शील-आचार-संपन्न परिवार में ही किया जाए । यह 'उचित विवाह' है ।

६. अजीर्ण में भोजन त्याग :- घर में भोजन किया जाता हे किन्तु पूर्व का जब तक यानी पहले किया हुआ भोजन पच न जाए, तब तक दूसरा भोजन न किया जाए । यह 'अजीर्ण भोजन त्याग' ।

७. समय पर सात्म्यतः भोजन :- भुख लगने पर भी भोजन प्रायः नियमित समय पर और अपनी प्रकृति के अनुकूल करना चाहिए । नियमितता की आवश्यकता इसलिए है कि उदर में पाचक रस नियमित रुप में प्रगट होते हैं । जल्दी या देर करने में इन में परिवर्तन होता है । यदि प्रकृति वायु की हो और सेम (वाल), चने, मटर आदि खाया जाए तो वायु के बढ़ने से स्वास्थ्य खराब होगा ।

८. माता - पिता की पूजा :- भोजन स्वयं का बाद में किया जाए, किन्तु माता - पिता को पहले कराया जाए । माता - पिता को भोजन, वस्त्र, शय्या आदि अपनी शक्तिअनुसार किन्तु अपनी अपेक्षा सवाया देकर भक्ति करनी चाहिए ।

९. पोष्य पोषण :- जिनका हम पर उत्तरदायित्व है ऐसे पोष्यवर्ग का, कुटुम्ब आदि का पोषण भी हमारा कर्तव्य है ।

१०. अतिथि, साधु, दीन की सरबराः- उनकी यथायोग्य प्रतिपत्ति। 'अतिथि' का अर्थ है कि जिनको धर्म करने के लिए कोइ निश्चित तिथिविशेष नहीं, परन्तु हंमेशा के लिए धर्म है, ऐसे मुनि । तथा 'साधु' अर्थात् 'सज्जन' । इनके अतिरिक्त यदि कोइ, दीन - हीन - दुःखी व्यक्ति घर पर आ जाए, तो उसकी भी यथा - योग्य सेवा

की जाए ।

११. ज्ञाति में ज्ञानवृद्ध व चारित्रपात्र की सेवा ग्यारहवाँ कर्तव्य है ।

आठ दोष का त्याग -

१. निंदात्यागः- दूसरे की निंदा न तो स्वयं करना, व न सुनना । निंदा महान दोष है । इससे हृदय में श्यामता, प्रेमभंग, नीचगोत्र कर्म का बंध आदि हानियाँ उत्पन्न होती है ।

२. निंद्यप्रवृत्ति का त्याग :- जैसे मुख से निंदा नहीं करना, वैसे ही शरीर अथवा इन्द्रियाँ से दूसरों का विश्वासघात, बेइमानी, जुआ आदि निन्दनीय प्रवृत्तियाँ भी नहीं करनी । अन्यथा निंदा होती है, और पाप लगता है ।

३. इन्द्रियों की गुलामी का त्याग :- इन्दियों को अयोग्य स्थान की ओर जाने से रोकना, उन पर अंकुश रखना ।

४. आंतरशत्रुजय :- हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मान (हठाग्रहादि), मद, हर्ष, ये छः आंतरशत्रु है । इन पर विजय प्राप्त करना । इनकी आधीनता से धन, पूर्व पुण्य और धर्म आदि की हानि होती है ।

५. अभिनिवेश का त्याग :- मन में अभिनिवेश यानी मताग्रह - दुराग्रह नहीं रखना । अन्यथा अपकीर्ति आदि होती है ।

६. 'त्रिवर्गबाधा' त्याग :- ऐसा न करना जिससे झूठे आवेश

के फलस्वरूप धर्म-अर्थ-काम इन त्रिवर्ग को परस्पर बाधा पहुँचे । इन तीनों में से किसी एक पर ऐसा टूट पड़ना नहीं कि जिससे दूसरे को बाधा पहुँचे । अपयश, धर्मलघुता, धर्महानि....आदि अनर्थ उत्पन्न हो ।

७. उपद्रव-युक्त स्थान का त्याग :- विद्रोह, महामारी, आदि उपद्रव युक्त स्थान का त्याग करना ।

८. अयोग्य देश-कालचर्या-त्याग :- इसी प्रकार अयोग्य देश में या अयोग्य काल में घूमना नहीं । जैसे कि वेश्या या चोर बदमाशों की गल्ली-मोहल्ले में से नहीं जाना चाहिए । इस प्रकार अधिक रात हो जाने पर भी नहीं घूमना, अन्यथा कलंकित होना पडे, या लूटा जाना पडे ।

आठ गुणों का आदर -

१. पाप का भय :- पाप से सदैव डरना चाहिए । ऐसा भय रहे कि 'मेरे से शायद पाप हो जाए तो?' इस गुण से पाप के प्रसंग पर 'इससे आत्मिक दृष्टि से मेरी क्या दशा होगी?' ऐसा भय बना रहता है, व पाप से बचा जाता है । यह आत्मोत्थान की नींव है ।

२. लज्जा :- अकार्य करते समय यदि लज्जा का अनुभव हो, तो जहाँ तक हो सके वहाँ तक उसे न करें । इसी प्रकार बडो

की लज्जा, दाक्षिण्य हो तो गलत रास्ते पर जाने से रुका जाता है । सत्कार्य की कभी इच्छा न होने पर भी शर्म से (लज्जावश) सत्कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती हैं । दाक्षिण्य से दूसरों की प्रार्थना का भंग नहीं किया जाता है ।

३. सौम्यता :- स्वभाव, हृदय, वाणी, और मुद्रा (मुखाकृति) सौम्य रखनी । इन चारों को उग्र न बनाकर कोमल शीतल रखना चाहिए । इससे सबसे सद्‌भाव और सहानुभूति प्राप्त होती है ।

४. लोकप्रियता :- उपर्युक्त गुणों और सदाचारो से लोगों का प्रेम सम्पादन करना ।

५. दीर्घदृष्टि :- किसी भी कार्य में कदम उठाने से पहले अन्तिम परिणाम तक दृष्टि डालनी, जिससे बाद में पछताना न पडे ।

६. बलाबल विचारणा :- कार्य चाहे परिणाम में लाभप्रद भी हो, तो भी कार्य और परिणाम के लिए अपना शक्ति सामर्थ्य कितना है यह सोच लेना चाहिए । शक्ति न होने पर दौड़ने में पीछे मूडना पडता है । अतः शक्ति न हो तो वह नहीं करना ।

७. विशेषज्ञता :- (विशेष विवेक) (i) हंमेशा सार-असार, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य, लाभ-हानी आदि का विवेक करना । (ii) इसी प्रकार विशेष नया आत्महितकर ज्ञान प्राप्त करते रहना । यह भी विशेषज्ञता है ।

८. गुण पक्षपात :- अपने जीवन में क्या, या दूसरों के जीवन में क्या; सर्वत्र गुणों पर रुचि रखनी, दोषों में रुचि नहीं । दोष के बदले में गुण का पक्षपाती बनना ।

आठ साधना -

१. कृतज्ञता :- देव-गुरु, माता-पिता, आदि किसीका भी अल्प भी उपकार भूलना नहीं । किन्तु उसे याद रखकर यथाशक्ति प्रत्युपकार करने के लिए तत्पर रहना ।

२. परोपकार :- दूसरे ने उपकार न भी किया हो या न करनेवाला हो, तो भी दूसरे पर स्वंय निःस्वार्थ हो उपकार करते रहना ।

३. दया :- दुःखी जीवों के प्रति हृदय को मृदु-कोमल दयालु-मीठा रखकर यथाशक्य तन, मन, धन से दया करते रहना । निर्दय कभी न होना । कम से कम शब्द से आश्वासन देना ।

४. सत्संग :- संसार में संगमात्र रोग है, दुःखदायी है, किन्तु सत्संग इस रोग के निवारण की जडीबुट्टी औषधि है । अतः सत्पुरुषों की अधिकाधिक संगति करनी ।

५. धर्म श्रवण :- सत्संग, साधुसमागम प्राप्त करके धर्म का श्रवण करते रहना । उस से प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती है, जिससे जीवन को सुधारने का अवसर प्राप्त होता है ।

६. बुद्धि के आठ गुण :- (i) धर्म श्रवण के लिये तथा (ii) व्यवहार में किसी को दिखाने की झूठी वाणी-वर्ताव पर उत्तेजित न होने के लिए बुद्धि के आठ सोपान पर आरुढ होना चाहिए । ये हैं-

"शुश्रुषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ।।"

(i) प्रथम श्रवण की इच्छा उत्पन्न होना 'शुश्रूषा' है । तत्पश्चात् (ii) इधर-उधर व्यर्थ न झांकते हुए; अथवा चित्त को शून्य न बनाते हुए, या मन को अन्यत्र न लगाते हुए ठीक प्रकार से धर्म सुनना यह 'श्रवण' है । (iii) सुनते हुए समझते जाना यह 'ग्रहण' है । (iv) समझी हुई बातों को मन में बराबर स्थिर रखना यह 'धारणा' है । (v) सुनी हुई बात पर अनुकूल तर्क-दृष्टान्त पर विचार करना यह 'ऊहा' है । (vi) प्रतिपक्ष में यह बात नहीं हैं यह देखना, अथवा प्रस्तुत में बाधक आशंका अभाव है यह निश्चित करना वह 'अपोह' है । (vii) ऊहापोह से पदार्थ का निर्णय करना यह 'अर्थ विज्ञान' है । (viii) पदार्थ-निर्णय पर सिद्धान्त निर्णय करना या सार-रहस्य-तात्पर्य का निर्णय अथवा तत्त्वनिर्णय करना, यह 'तत्त्वज्ञान' है । इस प्रकार बुद्धि के आठ गुणों के साथ धर्म-श्रवण करना ।

७. प्रसिद्ध-देशाचार का पालन :- जिन से धर्म का घात न हो, लोगों के चित्त में संक्लेश न हो, धर्म की निंदा न हो ऐसे प्रसिद्ध देशाचार का पालन करना, उल्लंघन नहीं करना ।

८. शिष्टाचार प्रशंसा :- शिष्ट पुरुषों के आचार ये हैं:- लोक-निंदा का भय, दीन दुःखियों का उद्धार, कृतज्ञता, दूसरे की प्रार्थना को न ठुकराने का दाक्षिण्य, निंदा-त्याग, गुण-प्रशंसा, आपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में नम्रता, अवसरोचित हित-मित-प्रिय वचन, एकवचनीपन यानी वचन बद्धता, विघ्नजय, आयोजित व्यय, सत्कार्य का आग्रह, अकार्य का त्याग, औचित्यादि-ऐसे शिष्ट आचारों की प्रंशसा करते रहना । शिष्टाचारों की प्रंशसा से इनके प्रति पक्षपात रहेगा, व मन में उनके संस्कार उत्पन्न होंगे ।

यह अत्यावश्यक है कि मार्गानुसारी के ३५ गुणों से जीवन महकता व दैदीप्यमान हो, क्योंकि आगे जाकर संसार का त्याग कर साधुजीवन में पहुँचना है । वहाँ भी यदि इन गुणों में से किसी एक गुण का भी भंग किया जाता है तो वह उच्च धर्मस्थान से पतित होने की स्थिति में पहुँच जाता है । जैसे कि नन्दीषेण मुनि 'अयोग्य देशकाल चर्या' तथा 'आन्तर शत्रुमद' के वश होकर वेश्या को समझाने के लिए उसके घर ठहरे तो पतित हुए ।

मार्गानुसारी गुणों द्वारा आत्म-क्षेत्र को जोतने से वह नरम (मृदु-मुलायम) बनता है व अपुनर्बधक अवस्था से रसीला व उपजाऊ बनता है ।

अपुनर्बधक अवस्था -

इसका भाव है आत्मा की ऐसी गुणयुक्त अवस्था कि अब जिसमें

कभी दर्शन-मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति (७० कोडाकोडी सागरोपम की) नहीं बंधती । इस अवस्था की उपलब्धि के लिए मूल में तीन गुण आवश्यक हैं -

१. तीव्र भाव से पाप का आचरण न करना । अर्थात् पाप से छुटकारा न होता तो भी कम से कम हृदय को पापभीरू, पाप से उद्वेग युक्त और कोमल रखना । पाप राचमाच के नहीं करना ।

२. घोर संसार पर बहुमान न धरना । 'संसार' अर्थात् चारगति में भ्रमण । 'संसार' अर्थात् दुन्यवी सुख । 'संसार' अर्थात् अर्थ-काम, तथा विषय-कषाय । 'संसार' अर्थात् कर्मबन्धन । 'यह संसार भयंकर है' इस बात को ध्यान में रखकर संसार के प्रति पक्षपात, इस पर आस्था नहीं रखनी, अथवा इस में अच्छाई की बुद्धि नहीं रखनी ।

३. उचित स्थिति का पालन करना । अपनी स्थिति के अनुचित व्यवहार नहीं करना ।

अब ऐसी रसाल (उर्वरा) आत्मभूमि में सम्यग्दर्शन आदि धर्म का सुन्दर वपन होता है ।

(२८)
धर्म के चार प्रकार

(१) दानादिक धर्म (२) सम्यग्दर्शनादि धर्म

(३) योगात्मक धर्म (४) साश्रव-निराश्रव धर्म

(१) दानादिक धर्म ४ प्रकार का है (i) दान, (ii) शील, (iii) तप, (iv) भावना । जीव का अनादि का स्वभाव स्वार्थकरण का बना हुआ है; स्वयं को जो प्राप्त हुआ है वह स्वयं ही रखे, स्वयं ही भुगते, स्वयं ही खाए, यह सब स्वार्थमाया है । इससे विपरीत है परार्थकरण, अर्थात् पर को (दूसरे को) दे, अन्य को खिलाए, अन्यका सुख का विषय बनाए । 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' अर्थात् जिसमें से दूसरों के लिए छोडा, वहीं सुखसाधन को भोंगना । केवल अपने ही सुख का विचार यह क्षुद्रता है, स्वार्थांधता है, जब कि दूसरे के सुख का विचार कितना महान और उदात्त है । २४ वें तीर्थंकर श्री महावीर भगवान का जीव प्रथम भव में नयसार नाम का गांव का मुखी था । अरण्य में राजा को आदेश से रथ बनाने योग्य काष्ट लेने गया था । जब भोजन समय हुआ तो उसने सोचा कि अतिथि को भोजन करवा कर भोजन करूं । अतिथि की सेवा कितनी प्रबल कि जंगल में स्वयं ही अतिथि को ढूंढने निकल पडा । सद्भाग्य के योग से घने अरण्य में भी उसे अतिथि के रुप में दो जैन मुनि ही मिल गए । मुनियों को सुपात्रदान दिया मुनि ने भी उसे सम्यक्त्व-धर्म दिया ।

प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान का जीव धन (धन्य) सार्थवाहने मुनि को घी का दान दिया व मुनि से सम्यक्त्व-धर्म पाया ।

(i) दान के ३ प्रकार है (i) अभयदान (ii) ज्ञानदान (iii) धर्मोपग्रहदान ।

'अभयदान' में मृत्यु मुख में जाते जीवों को जीवितदान दिलाना । 'ज्ञानदान' में सम्यक्शास्त्रो का बोध देना । 'धर्मोपग्रह-दान' में साधु को उनके संयम जीवन के पोषक अन्न, वस्त्र, पात्र, औषधि आदि का दान देना ।

अरिहंत भगवान तीर्थंकर बनते पहले वर्षीदान देते हैं, सालभर तक रोजाना सुबह दो घटिका पर्यंत १ क्रोड ८ लाख सुवर्णमुद्रा का इच्छित दान देते है । इससे दानधर्म की प्रथमता सूचित होती है । गृहस्थ धर्म में भी जिनपूजा मुख्य है, इसमें भी अपने द्रव्य का परमपुरुष जिनपरमात्मा जैसे श्रेष्ठपात्र (रत्नपात्र) में दान है ।

शीलधर्म का महत्त्व -

(ii) शीलधर्म में ब्रह्मचर्य, सदाचार, सम्यक्त्व, अणुव्रत महाव्रत और अवान्तर कितने ही व्रत-नियम लिए जाते हैं व पाले जाते हैं । शीलधर्म की इतनी महत्ता है कि 'शील बिना व्रत जाणजो, कुसका सम भाई रे', शील सदाचार के बिना और व्रत-नियम चावल के छिलके समान है । शीलरहित मनुष्य का भरोसा नहीं किया जाता

है ।

शील का इतना बड़ा प्रभाव है कि जब सीताजी को रामचन्द्रजी ने सतीत्व की प्रतीति कराने हेतु प्रज्वलित आग में प्रवेश करने का कहा तब सीताजी ने ३०० हाथ लम्बे अग्नि से प्रज्वलित खंदक के आगे खडे रह कर गंभीर स्वर में अपना यह संकल्प वहां उपस्थित जन-मेदनी को सुनाया :-"यदि मेरे दिल में रामचंद्रजी के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुरुष को स्थान नहीं दिया हो, अर्थात् मेरा शील अगर शुद्ध-विशुद्ध हो, तो हे अग्निदेवता ! मुझे अपनी ज्वालाओं में से जाने का मार्ग दे दीजिए; अन्यथा मुझे तुम अपनी ज्वालाओं में भस्मीभूत कर देना" इतना कहते ही सीताजी ने ज्यों ही प्रज्वलित अग्नि में पेर रखा; फिर तत्क्षण अग्नि-शिखाओं से उबलता खंदक निर्मल जल से सुशोभित सरोवर बन गया !

तपधर्म का महत्त्व -

जीव-स्वरुप सुवर्ण को शुद्धता का रूप लाने के लिए तप-साधना अग्नि है । तप यह नवकारशी से लेकर बियासन, एकासन, नीवि, आंयबिल, उपवास, छट्ठ, अट्ठम, अट्ठई, पासक्षमण, मासक्षमण यावत् छ मासी उपवास तक किया जा सकता है । महावीर परमात्मा गणधर गौतमस्वामी को कहते है कि, "है गौतम ! जिन्होंने पूर्व जन्मों में निजकृत पापों की आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त न किये हो, उनको उन पापों का नाश या तो उनके फल-विपाक भुगते बिना

या तो तप से क्षय किए बिना, नहीं हो सकता है ।

इस हिसाब से सोचना चाहिए कि जनम-जनम के पापों का तप से नाश करने के लिए यहाँ तपस्या करने का कितना बड़ा सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है । तप में अल्प कष्ट से महान फल पा सकते हैं । तप से पाप का विनाश तो होता ही है, साथ में पुण्योपार्जन भी बहुत होता रहता है ।

वणिकपुत्र 'नंदीषेण' निर्धन एवं सेवाभावी होने पर भी अपमानित हुआ, चारित्र लेकर साधु बना, व छट्ठ के पारणे छट्ठ के बाह्यतप में और साधु-वैयावच्च के अभ्यान्तर तप में तत्पर बना । इससे वह अगले जन्म में कृष्ण वासुदेव का पिता वसुदेव हुआ । वह तप-वैयावच्च से इतना सौभाग्य का उदय ले आया था कि नगर का नारी-समूह उसे देखने के वास्ते सदा साथ लालायित रहता था । वैताढ्य पर्वत पर गया तो हजारों विद्याधर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर घर ले आया ।

तप महामंगल है, तप महान विघ्न-विनाशक है । शाम्ब, पालक, आदि राजकुमारों ने शराब पीकर द्वैपायन ऋषि की हसी-मजाक उडाई, तब द्वैपायन ऋषि ने शाप दिया था कि द्वारिका को जला दूंगा । तपस्वी द्वैपायन मृत्यु के बाद देव बना व द्वारिका को प्रज्वलित करने के लिए सन्नद्ध हो गया । किन्तु कृष्ण की घोषणा से द्वारिकावासियों ने जिनश्वरदेव की भक्ति के साथ ही आयंबिल

आदि तप शुरू कर दिया । भक्ति व तप के अचिन्त्य प्रभाव से द्वैपायन १२ साल तक द्वारिका के उपर ऊँचे ऊँचे आसमान में चक्कर काटता रहा, किन्तु तप धर्म का तेजपुंज उसे निष्प्रभाव करके नीचे उतरते रोक रहा था । अतः वह द्वारिका को प्रज्वलित न कर सका ।

'१२ साल के बाद अब तो देव भूल गया होगा' ऐसे भ्रम में पडकर लोगों ने जब तप छोड़ दिया, तब देवता ने द्वारिका जला दी ।

तप से आत्मा में कई प्रकार की लब्धियां उत्पन्न होती है । सनत्कुमार चक्रवर्ती को सहसा १६ रोग उत्पन्न हो गए । व्याधियों का विनाश करने के लिए उन्होंने द्रव्य-औषधि का सहारा न लेते हुए, अनंत कल्याणकर चारित्रमार्ग स्वीकार कर तपरूप भाव-औषधि का सहारा ले लिया । परिणाम यह आया कि सेवा करने आए हुए देवता को अपनी कोढरोग से व्याप्त ऊँगली पर अपना ही थूंक लगाकर कंचनवर्णी-सी कर दिखाई । व कहा "आप क्या मेरी व्याधियों को मिटाओगे ! मैं स्वयं ही उन्हें इस प्रकार मिटाने में समर्थ हूँ, किन्तु व्याधि तो मेरे मित्र है, जहाँ तक रोग शरीर में व्याप्त है वहाँ तक मेरे कर्मो का निकाल होता ही रहता है । मेरे शत्रुभूत पूर्वसंचित पापकर्मो का उन्मूलन करने मे व्याधि सहायक है, वास्ते उनको क्यों हटाऊँ?" चक्रवर्ती की सुकोमल काया से उन्होंने ७०० वर्ष तक तप कर के व्याधि के कर्मो का विध्वंस कर दिया ।

निर्मल तप से वांछित सिद्धि होती है, व स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।

जीव संसार के अंदर क्यों परिभ्रमण कर रहा है? कहना होगा कि आहार संज्ञा, विषय संज्ञा, कषाय संज्ञा आदि से ही परिभ्रमण करने का चालू है । प्रथम आहारसंज्ञा ही अन्य संज्ञाओं का पोषक तत्त्व है । पहले इस को ही अंकुश में लेनी चाहिए । इसको अंकुश में लाने के लिए तप यह रामबाण उपाय है । तप करना याने चाहे छोटा-सा बियासन ही क्यों न किया जाय, उसमें भी दिन में बार-बार कुछ न कुछ मुंह में डालने की (संज्ञा) मनोवृत्ति लुप्त होती है । इससे पर्वतिथि आने पर उसकी अवगणना नहीं होती, उस पर उद्विग्नता नहीं आती, किन्तु भावना बढती है, 'चलो ! अच्छा हुआ पर्वतिथि आई, आज आहार-संज्ञा को अधिक अंकुश में लेने का सुनहरा अवसर प्राप्त होगा ।'

तपधर्म का कितना बडा महत्त्व है कि स्वयं तीर्थंकर परमात्मा आभ्यन्तर तप तत्त्व, चिंतन, ध्यान, कायोत्सर्गादि तो करते ही थे, फिर भी उन्हें उपवासादि बाह्यतप भी बहुत किया । त्रिलोकनाथ महावीर परमात्मा ने १२।। वर्ष में ११।। वर्ष जितने उपवास किए थे । बाह्यतप क्यों? इन्हीं आहारादिसंज्ञाओं को एवं देहाध्यास (देहममता-राग) को नष्ट करने के लिए । तब सोचिए प्रखर मनोबली व उच्चशुद्ध भाव में लीन महावीर प्रभु जैसे को भी उपवासादि तप

की आवश्यकता महसुस हुई, तब कई भारी कर्मो से भरे अपने जीव को तप की कोई जरुरत नही है?

तप से सत्त्व बढ़ता है, सत्त्व से कई साधनाएं व सद्.गुण बढ़ते रहते है । जगच्चंद्रसूरिजी महाराज ने १२ वर्ष तक आयंबिल तप चलाया । सत्त्व इतना बढ़ा कि उन्होंने दिगंबरों के साथ ३३ बाद में विजय पा ली । चित्तौढ के राणा ने उन्हों 'तपा' बीरुद प्रदान किया । तब से बडगच्छ का नाम 'तपागच्छ' चला । तप की महिमा अनंत है । जिनशासन बताता है :-

"ते भव मुक्ति जाणे जिनवर, त्रण-चउ ज्ञाने नियमा ।

तो पण तप आचरण नवि मूके अनंतगुणो तपमहिमा ।"

अर्थात् तीर्थंकर भगवान उसी भव में निश्चित मोक्षगमन मालुम होते हुए भी तप का आचरण नही छोडते हैं क्योंकि अनंतगुणो तपमहिमा ।

भावना-धर्म का महत्त्व -

भावनाधर्म में चित्त में शुभ भावनाओं का चिंतन करना आता है । जैसे कि अनित्यता, अशरणता, संसार... आदि १२ विषय पर चिंतन किया जाए । उन्हें द्वादश अनुप्रेक्षा भी कहते हैं । एवं मैत्री आदि ४ भावनाएँ, व ज्ञानादि ४ भावनाएँ की जाए ।

अनित्यादि १२ भावना- (अनुप्रेक्षा) -

'अनुप्रेक्षा' माने ऐसा चिंतन कि जिससे आत्मा भावित हो । जैसे कि, - 'जगत् के संयोग अनित्य है, तो हमारे भी इष्ट-संयोग सब अनित्य है,' - ऐसा चिंतन करते करते दिल ऐसा भावित हो जाए, कि मन को महसूस होने लगे कि

अनित्य संपत्ति-परिवार आदि पर क्या आसक्ति करनी? १२ भावना के विषय ये हैं,-

१. अनित्यता	४. एकत्व	७. आश्रव	१०. लोक
२. अशरण	५. अन्यत्व	८. संवर	११. बोधि
३. संसार	६. अशुचित्व	९. निर्जरा	१२. धर्मस्वाख्यात

(१) बाह्य-अभ्यन्तर सब संयोग नाशवंत है । (२) जीव को संसार में कोई भी शरणभूत नहीं । (३) संसार असार है, क्योंकि इसमें विचित्र संबंध, स्वार्थ पटुता, अनेक आशाभंग...आदि अनिष्ट है । (४) जीव जन्म-मृत्यु-रोग-कर्मबन्ध-परलोक गमन आदि से अकेला है । (५) स्वजन-परिजनादि सब हमसे अन्य है । (६) शरीर अशुचि से उत्पन्न व पुष्ट एवं अशुचिमय है । (७) हिंसादि के विचार-वाणी-वर्ताव व राग-द्वेषादि ये अपार कर्मबंधक आश्रव है । (८) जिनभक्ति आदि धार्मिक क्रिया-व्रत-नियम आदि ये कर्म-रोधक संवर है । (९) तपधर्म, कष्ट, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान आदि से बहुत कर्मनिर्जरा होती है । (१०) लोकत्रिलोक की परिस्थिति सोचनी । (११) 'बोधि' यानी

जैनधर्मप्राप्ति अति दुर्लभ है । (१२) 'अहो सर्वज्ञतीर्थंकर भगवान ने कितना उत्तम धर्म फरमाया है ।'

मैत्री आदि ४ भावना -

(१) मैत्री है समस्त जीव राशी पर स्नेह-वात्सल्य । भावना 'सबका भला हो सब के दुःख दुर्बुद्धि जाओ ।'

(२) करुणा :- 'दूसरे का दुःख मैं मिटाऊं' ऐसी बुद्धि

(३) प्रमोद :- दूसरे के सुख या गुण में इर्ष्या नहीं किन्तु हर्ष ।

(४) चौथी उपेक्षा भावना :- पर दोष के सामने दृष्टि ही नहीं डालनी । उसका विचार ही नहीं करना । उसकी उपेक्षा करनी ।

४ ज्ञानादि भावना -

इस प्रकार अन्य भी चार भावना है (i) ज्ञानभावना (ii) दर्शनभावना (iii) चारित्रभावना (iv) वैराग्यभावना । इस भावना से आत्मा को ज्ञानादि से भावित करना होता है । यह दानादि धर्म बात हुई ।

'सम्यग्दर्शनादि धर्म - योगात्मक धर्म'

साश्रव-निराश्रव धर्म

(२) सम्यग्दर्शनादि धर्म :- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग् चारित्र ।

(३) योगात्मक धर्म :- 'अध्यात्म-भावना-ध्यान-समता वृत्तिसंक्षयः ।'

(४) साश्रव-निराश्रव धर्म में जो आरंभ-समारंभ से युक्त है, जैसे कि जिनपूजा-साधर्मिक भक्ति, यात्रा संघ, मंदिर निर्माण इत्यादि । वे साश्रव धर्म हैं । सामायिकादि निराश्रव धर्म हैं ।

(२९)
सम्यग्दर्शन

मार्गानुसारी और अपुनर्बंधक अवस्था जैनेतरो में भी संभव है । राजा भर्तृहरि जैसे प्रचंड वैराग्य प्राप्तकर संसार का त्याग करके अवधूत संन्यासी बन गए थे । वे इस अपुनर्बंधक दशा की सुंदर स्थिति को प्राप्त किए हुए थे । किन्तु उन्हें वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्वों की प्राप्ति नहीं हुई थी । अतः वे सम्यग्दर्शन की अवस्था तक नहीं आ सके थें, और न ही उच्च गुणस्थानक पर चढ़ सके थें । इसलिए सम्यग्दर्शन की नींव स्थापित करने की खास तौर पर आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन यह दानादि धर्म, अणुव्रतादि श्रावकधर्म, क्षमादि यतिधर्म, एवं अध्यात्मादि योगधर्म की नींव है ।

'सम्यग्दर्शन' का अर्थ है 'जिनोक्त तत्त्व पर रुचि' । 'जैन' यानी वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्वभूत पदार्थ की हार्दिक अनन्य श्रद्धा, यह सम्यग्दर्शन है । इसमें 'तत्त्व' अर्थात् वस्तु-स्वरूप । यह अनेकान्तमय है, एकान्तरूप नहीं । इसके प्रतिपादक वीतराग सर्वज्ञ हैं । वीतराग भगवान में असत्य कथन के कारणभूत राग-द्वेष आदि का अभाव है । एवं असत्य के कारणभूत अज्ञानता का भी अभाव

है । उसी प्रकार वे सर्वज्ञता द्वारा तीनों काल के समस्त पदार्थो को प्रत्यक्ष देखते हैं । और विश्व का जैसा स्वरूप है वैसा ही कथन करते हैं । अतः इन्हीं तत्त्व पर संपूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए । जीव-अजीव आदि पहले ही बताए जा चुके हैं । इन में ज्ञेय-हेय-उपादेय तत्त्वों के प्रति उनके अनुरूप मन की वृत्ति-झुकाव-मोड रखना चाहिए । जैसे कि, आश्रव हेय है, अतः इसके प्रति ग्लानि, घृणा, अरुचि एवं भय का मानसिक मोड रखना चाहिए ।

यह सम्यग्दर्शनगुण निश्चय-दृष्टि से तो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में प्रगट होनेवाला एक शुद्ध परिणाम (अवस्था) है । किन्तु व्यवहार-दृष्टि से वह सद्दहणा, श्रद्धा, लिंग, लक्षण आदि स्वरुप है ।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण है- शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

(१) शम :- अर्थात् प्रशम । दूसरे शब्दो में अनंतानुबंधी कषाय के उदय से होने वाले रागद्वेषादि के आवेश की शान्ति ।

(२) संवेग :- अर्थात् देवलोक के सुखों को भी दुःख-स्वरुप समझकर इनकी लालसा छोडकर एकमात्र मोक्ष के साधनभूत धर्म के लिए ही तीव्र अभिलाषा का होना । इस प्रकार सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर तीव्र अनुराग का होना, यह संवेग कहलाता है ।

(३) निर्वेद :- 'संसार दुःखों की खान है, वास्ते वह नरकागार रुप लगे । संसार पापों की पराधीनता से युक्त है, अतः कारागार यानी जेल के समान है' यह प्रतीत हो; और इसके प्रति उद्वेग का होना यह निर्वेद है ।

(४) अनुकम्पा :- शक्ति अनुसार दुःखी के दुःख दूर करने की दया की जाए और शक्ति न हो वहां शेष जीवों के प्रति भी हृदय में आर्द्रता रखी जाए यह अनुकम्पा है ।

दुःखी दो प्रकार के हैं- १. द्रव्य से दुःखी अर्थात् भूख, प्यास, रोग, अपमान, मारपीट, आदि से पीड़ित । २. भाव से दुःखी अर्थात् पाप, दोष, मूल, अधर्म, कषाय आदि से पीड़ित । दोनों के प्रति दया का नाम 'अनुकम्पा' है ।

(५) आस्तिक्य :- अर्थात् ऐसी अटल श्रद्धा कि 'तमेव सच्चं निस्सकं जं जिणेहिं पवेइयं' - 'जिनेश्वर देवो ने जो कुछ कहा है वही सच्चा और शंकाविहीन है ।' हृदय पर जिन-वचन का पक्का रंग चढ़ा हो । इसी प्रकार जिनवचन में कथित साधु-धर्म के प्रति यानी निग्रंथ धर्म के लिए 'एसेव अट्ठे, इट्ठे, परमट्ठे, सेसे सव्वं खलु अणट्ठे अणिट्ठे' = 'यही अर्थ हए, इष्ट है, शेष सब अनर्थ रुप है, अनिष्ट है', - इस प्रकार सर्वत्र हृदय में आग लगी हो ।

सम्यक्त्व के ६७ व्यवहार -

सम्यग्दर्शन मोक्ष का अनिवार्य रूप से प्रथम उपाय है यह जैसे जैसे अधिक से अधिक निर्मल होता है, वैसे वैसे बाद के उपाय यानी देश-सर्व चारित्र आदि प्रबल होते जाते हैं । इस निर्मलता के लिए सम्यक्त्व के ६७ व्यवहारो का पालन करना आवश्यक है । इन्हें सरलता से याद रखने के लिए यह पद उपयोगी है :-

"सद्द, शुलि, दूभूल, आजभाठ्ठा, प्रभा वि" इस में प्रत्येक अक्षर एक एक विभाग का संकेत करता है । वह इस प्रकार हैः- ४ सद्दहणा, ३ शुद्धि, ३ लिंग, ५ दूषण, ५ भूषण, ५ लक्षण, ६ आगार, ६ जयणा, ६ भावना, ६ स्थान (स्थळ), ८ प्रभावना, १० विनय, - इस प्रकार सम्यक्त्व के ६७ व्यवहार हैं ।

'सद्द शुलि' .... का विवरणः-

४ सद्दहणा - (i) परमार्थ संस्तव = जीव - अजीवादि तत्त्व (परमअर्थ) का परिचय, यानी हार्दिक श्रद्धावाला अभ्यास । (ii) परमार्थ के ज्ञाता साधुजनों की सेवा । (iii) व्यापन्नवर्जन = सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट कुगुरू का त्याग । (iv) मिथ्यादृष्टि कुगुरू की संगति का त्याग ।

३ शुद्धि :- (i-ii) मन और वचन यही कहें - 'जिन शरण ही सार है, जिनभक्ति ही समर्थ है ।'

(iii) शरीर जिन पर की श्रद्धा से लेशमात्र भी विचलित न हो, चाहे देवों का भी उपद्रव प्रस्तुत हो न? जगत् में जिनेश्वर देव,

जिनमत और जिनमत में विद्यमान संघ; 'ये तीन ही सार हैं, शेष संसार असार' ऐसा हृदय में सचोट (अचूक) जम गया हो ।

३ लिंग :- (i) सुखी युवक को दिव्यसंगीत के श्रवण में जैसा तीव्र राग होता है, वैसा धर्म शास्त्रश्रवण में तीव्र राग । (ii) अटवी पार किये हुए अत्यन्त भूखे ब्राह्मण को घेबर की तीव्र इच्छा के समान चारित्रधर्म की तीव्र अभिलाषा । (iii) विद्यासाधक के समान अरिहंत और साधु की विविध सेवा का नियम ।

५ दूषण का त्याग :- (i) जिनवचन में शंका (ii) इतर धर्म की आकांक्षा या आकर्षण, (iii) धर्मक्रिया के फल में संदेह, (iv) मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा, (v) कुगुरू का परिचय (संस्तव) ये पांच अकरणीय हैं ।

५ भूषण :- (i) जैन शासन में कुशलता (उत्सर्ग वचन, अपवाद वचन, विधि वचन, भय वचन... आदि का विवेक) (ii) शासन प्रभावना (iii) स्थावर तीर्थ शत्रुंजय आदि की तथा जंगमतीर्थ 'श्रमण संघ' की विविध सेवा (iv) स्व-पर को जैन धर्म में स्थिर करना (v) प्रवचन - संघ की भक्ति विनय-वैयावच्च (सेवा) ।

५ लक्षण :- शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य ।

६ आगार :- अगार का अर्थ है अपवाद । (i) राजा (ii) जन-समूह (iii) बलवान चोर आदि (iv) कुलदेवी आदि (v) माता - पिता आदि गुरुवर्ग, - इन पांच का उस प्रकार का बलात्कार हो

(जबरदस्ती हो), या (vi) जंगल आदि में आजीविका का जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो, उस समय मिथ्यादेव - गुरू - धर्म को हृदय के भाव के बिना वंदन करने का अपवाद ।

६ जयणा (यतना) :- 'जयणा' अर्थात् सावधानी । मिथ्यादृष्टि संन्यासी आदि कुगुरू, महादेव आदि कुदेव, तथा मिथ्यात्वियो द्वारा अपने देव के रूप में ग्रहण की गयी जिन-प्रतिमा, इन तीनों को वंदन-नमन, आलाप-संलाप अथवा दान-प्रदान ये छः बाते न करना । इस से सम्यक्त्व की जतना-रक्षा होती है ।

('वन्दन' = हाथ जोडना, 'नमन' = स्तुति आदि से प्रणाम, 'आलाप' = बिना बुलाये सन्मान से बुलाना, 'संलाप' = बार बार वार्तालाप, 'दान' = पूज्य के रूप में सत्कार बहुमान से अन्नादि देना, 'प्रदान' = चन्दन, पुष्पादि पूजा सामग्री धरना, अथवा यात्रा, स्नान, विनय, वैयावच्च आदि करना ।

६ भावना :- सम्यक्त्व को स्थिर रखने लिए उसे 'मूल-दारं-पइट्ठाणं, आहारो भायणं निहि', ये छः भावनाओं देनी चाहिए । जैसे कि सम्यक्त्व बारहव्रत रूपी श्रावकधर्म का मूल है, द्वार है, नींव है, आधार है, भाजन (पात्र) है, भंडार (तिजोरी) है । सम्यक्त्व स्वरुप मूल के बिना धर्म वृक्ष सूख जाता है । सम्यक्त्व रुपी द्वार के अभाव में दानादि स्वरुप धर्मनगर में प्रवेश संभव नहीं । सम्यक्त्व की अचल नींव के बिना व्रतादि धर्मरुप भवन न तो स्थिर टिक सकता है और

न बढ़ सकता है । सम्यक्त्व रूपी पृथ्वी के आधार पर ही धर्म-जगत् खड़ा रहता है । जैसे शेरनी का दूध सोने के पात्र में ही टिक सकता है, वैसे व्रत, अनुष्ठान दानादि आंतरिक धर्म; सम्यग्दर्शन स्वरुप पात्र में ही रह सकते हैं । जैसे मणि, माणिक्य, मोती, ये भंडार में सुरक्षित रह सकते है, उसी प्रकार दानादि धर्म समकित की तिजोरी में ही सुरक्षित रह सकते हें । इस प्रकार यह भावना करनी चाहिए कि 'व्रतधर्म के लिए सम्यक्त्व सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है ।'

६ स्थान :- आत्मा के विषय में ये छः बाते षट्स्थान कहलाती है । (i) 'आत्मा है' (ii) 'आत्मा नित्य है ।' (iii) 'आत्मा कर्म की कर्ता है ।' (iv) आत्मा कर्मफल की भोक्ता है । (v) 'उसकी मोक्ष है ।' (vi) 'मोक्ष के उपाय हैं ।' इसे मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला 'नास्तिक' कहलाता है ।

(i) जगत् में इस प्रकार के स्वतन्त्र आत्मद्रव्य अनन्त हैं । इसीलिए इस आत्मद्रव्य और जड़द्रव्य के परस्पर सहकार से इस विश्व का सिलसिला (सर्जन-विसर्जन की परंपरा) चलता है । जीव ही जड़ अन्न का आहार करता है । तभी शरीर बनता है, टिकता हैं और बढ़ता है । शरीर में अवयव और इन्द्रियाँ हैं । अतः जीव ही इनके द्वारा गमनागमन करता है, देखता है, सुनता है, बोलता है,... आदि क्रिया करता है । इस प्रकार षट् स्थान में प्रथम स्थान

यह है कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

(ii) इन आत्मद्रव्यों को किसी ने बनाए नहीं, किंतु ये अनादि काल से विद्यमान है । जीव का यहां मरण होने पर भी इनका अस्तित्व बना क्योंकि 'मरण' का अर्थ है 'आत्मा का इस शरीर के साथ वियोग ।' ये अनादि अनंत है, सनातन है, नित्य है,-यह आत्मा का द्वितीय स्थान है । यह आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक गति से दूसरी गति में, एक कर्म के उदय से दूसरे कर्म के उदय पर, निराधार तथा पराधीन रुप में भ्रमण-संसरण करती है । इसलिए इस संसरण का नाम 'संसार' है । अनादि से संसार के सब जीव संसरण करते आये हैं । अतः वे नित्य हैं ।

(iii) आत्मा विविध वृत्तियों और प्रवृत्तियों से कर्म (पुण्य-पाप) का उपार्जन करती है । उसमें वृत्ति अथवा प्रवृत्ति से तुरंत अपने को कर्म चिपकते रहते ही हैं । अतः आत्मा कर्म की कर्ता है ।

(iv) आत्मा कर्म की भोक्ता है । जैसे नौकरी करनेवालें को ही वेतन मिलता है, वैसे ही कर्म के कर्ता को ही अपने उपार्जित कर्म का फल भोगना पड़ता है, दूसरे को नहीं । इसी प्रकार जैसे अधिक भोजन करनेवाले व्यक्ति को ही पेट के दर्द का भोग करना पड़ता है, वैसे पाप-कर्म पैदा करने वालों को ही उनका फल भोगना पडता है । विविध शरीरों का निर्माण, अज्ञानदशा, रोग, यश, अपयश आदि इन्हीं कर्मो के परिणाम हैं ।

(v) अनादि काल से कर्मो से बद्ध होती हुई आत्मा का मोक्ष भी हो सकता है । मूलरुप से भूमि में स्वर्णमिश्रित मिट्टी से स्वर्ण सर्वथा मुक्त होता हुआ दिखाई देता है । कर्म तथा देहादि का नितांत-आत्यंतिक वियोग होने पर आत्मा का मोक्ष हुआ माना जाता है ।

(vi) इस मोक्ष के उपाय भी हैं । जिन कारणो से कर्मो का संयोग होता है, उनके विपरीत कारणो से कर्म का वियोग होता है, यह सहज है । राग-द्वेष, अज्ञान आदि कर्मबंधन के कारणो को रोककर इन के विरोधी वैराग्य, त्याग, उपशम, सम्यग् ज्ञानादि का सेवन हो, तो पराकाष्ठा में सर्व कर्मक्षय हो अंत में संसार में से हंमेश के लिए जरुर मोक्ष होता है ।

८. प्रभावना- जनता में जैनशासन की प्रभावना करे वैसी प्रवचन-पटुता, धर्म-कथकता आदि आठ विशेषताओं से सम्यक्त्व निर्मल होता है । अतः यहाँ इन्हें भी ६७ व्यवहारों में गिना गया है । ऐसी विशेषता वालें आठ है (आठ के प्रथमाक्षर-प्राककविनैवासित)

(i) प्रावचनिक :- (प्रवचन=द्वादशांगी) अपने अपने समय में उपलब्ध सब आगमो का प्रखर ज्ञाता । यह प्रभावक होता है ।

(ii) धर्मकथा :- आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगजननी और निर्वेदकारिणी धर्मकथा में कुशल ।

(iii) कवि :- चमत्कारिक विशिष्ट उत्प्रेक्षादि युक्त काव्य की शीघ्र

रचना कर सकनेवाला ।

(iv) विद्यावान् :- जिसे प्रज्ञप्ति - आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध हैं ।

(v) नैमित्तिक :- भूत-भविष्य को जान सके वैसे निमित्तशास्त्र में निष्णात ।

(vi) वादी :- परमतखंडन-स्वमतस्थापनकारी वाद की लब्धि से युक्त ।

(vii) सिद्ध :- चमत्कारी पादलेप, अंजन, गुटिका आदि का ज्ञाता ।

(viii) तपस्वी :- विशिष्ट तपस्यावाला ।

१०. विनय :- सम्यक्त्व-संपन्न आत्मा को इन दश का विनय करना चाहिए । १ से ५. पंच परमेष्ठी, ६. चैत्य, ७. श्रुत, ८. धर्म ९. प्रवचन १०. दर्शन (चैत्य=जिनमूर्ति, मन्दिर, श्रुत=आगम, धर्म=क्षमादि यतिधर्म, प्रवचन=जैनशासन-संघ, दर्शन=सम्यक्त्व ।

यह विनय पांच प्रकार से किया जाता है (i) बहुमान पूर्वक विनय-भक्ति (ii) वस्तु के अर्पण से पूजा (iii) गुण-प्रशंसा (iv) निंदा का त्याग व (v) आशातना का त्याग । इस प्रकार दशों के विनय के ५० प्रकार होते हैं ।

इन ६७ प्रकार के व्यवहार के पालन से सम्यक्त्व का आत्मा-

परिणाम प्राप्त न हो तो प्राप्त हो जाता है; प्राप्त हो तो अधिकाधिक निर्मल हो जाता है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा उसकी उत्तरोत्तर निर्मलता के लिए निम्नलिखित बातें भी आचरनी हैं ।

सम्यक्त्व की करनी :-

प्रतिदिन जिनदर्शन, जिनभक्ति, जिनपूजा, पूजा में अपने पूजन-द्रव्यों का यथाशक्ति समर्पण, साधु-सेवा, जिनवाणी का नित्य श्रवण, नमस्कार महामन्त्र का रोजाना स्मरण, अरिहंत, सिद्ध, साधु जिनधर्म के त्रिकाल शरण की स्वीकृति, अपने दुष्कृत्यो की आत्मा-निन्दा, अरिहंत आदि के सुकृतो की अनुमोदना, तीर्थयात्रा, साधर्मिकभक्ति, साधर्मिक मिलने पर प्रणाम, साधर्मिक उद्धार, बीमार-साधर्मिक की सेवा, सात व्यसन (शिकार, जुआ, मांसाहार, शराब, चोरी, परस्त्री-गमन का सर्वथा त्याग, रात्रिभोजनत्याग इत्यादि व्रत-नियम, दयादानादि धर्म की प्रवृत्ति, सामायिकादि क्रिया, तीर्थंकर परमात्मादि महापुरुषो के चरित्र-ग्रन्थो और उपदेशमाला, धर्मसंग्रह, अध्यात्मकल्पद्रुम, उपमिति भवप्रपंचा कथा, आदि ग्रन्थो का श्रवण, वांचन, मनन, तीर्थयात्रा इत्यादि ।

(३०)
देश विरति : बारह व्रत

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की इससे उसके अन्तर्गत भव-निर्वेद के कारण संसार तथा आरंभ, परिग्रह, विषय आदि आत्मा को विष के समान प्रतीत होते हैं । अतः इस प्रतिदिन तीव्र इच्छा रहती है कि "कब पाप से भरे इस गृहवास को छोडकर निष्पाप साधुदीक्षा (चारित्र-प्रवज्या) ग्रहण करूं! और अणगार बनकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप का ही एकमात्र जीवन व्यतीत करूं!" इससे अलबत्ता संसार तत्काल न छोड़ा जा सके यह संभवित है, किन्तु उसका दिल कायम ऐसा बना रहना चाहिए । अब जब सर्वपाप-त्याग की सच्ची कामना है, तब फिर इस मार्ग की और अग्रसर करने वालें शक्य पाप-त्याग के मार्ग का अभ्यास करना चाहिए । इसके लिए 'देशविरति (आंशिक विरति) धर्म' का पालन कर्त्तव्य बन जाता है ।

इसमें सम्यक्त्वव्रत पूर्वक स्थूल रूप से हिंसादि पापो के त्याग की तथा सामायिकादि धर्म साधना की प्रतिज्ञा की जाती है । इस प्रकार देशविरति धर्म में ये १२ व्रत आते हैः- ५ अणुव्रत + ३ गुणव्रत + ४ शिक्षाव्रत = १२ व्रत।

५ अणुव्रत :- स्थूल रूप से हिंसा, असत्यादि पापो का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग । स्थूल अहिंसा, सत्य, नीति, सदाचार, अल्प परिग्रह ।

३ गुणव्रत :- दिशापरिमाण, भोगोपभोगपरिमाण, - अनर्थदण्ड विरमण ।

४ शिक्षाव्रत :- सामायिक, देशावकाशिक, पौषध, और अतिथि संविभाग ।

१. अणुव्रत :- स्थूल अहिंसा :-

स्थूल प्राणातिपात विरमण :- "हिलते-डुलते निर्दोष त्रस जीव को जानबूझकर निरपेक्षता से नहीं मारूं"यह प्रतिज्ञा । इसको विशुद्ध रूप से पालन करने के लिए जहां तक संभव हो जीव पर प्रहार, उसका अंग-छेद, दृढ़ बंधन, उसे दागना, अति भारारोपण, भोजन-पानी में विलम्ब, विच्छेद नहीं करना चाहिए । प्रतिज्ञा में कभी रोग की स्थिति में जुलाब आदि लेना पड़े और उसमें जीव मरे तो उसकी यतना (संतप्त हृदय से अपवाद) ।

२. अणुव्रत : स्थूल सत्य :-

स्थूल मृषावाद-विरमण :- १. कन्या आदि मनुष्य के विषय में, २. पशु के विषय में, ३. जमीन मकान के विषय में, माल के विषय में झूठ नहीं बोलूं । ४. दूसरे की धरोहर से इन्कार न करुं, उसे हड़प न कर लूं, तथा झूठी गवाही न दूं, (दाक्षिण्य में यतना)' 'ऐसी प्रतिज्ञा । इसके शुद्ध पालन के लिए सहसा (बिना विचार किए) नहीं बोलना । पत्नी, मित्र आदि की गुप्त बातें किसी से भी

न कहना, दूसरे की झूठ की सलाह से जवाब न देना, नकली झूठे बहीखाते दस्तावेज न लिखना इन बातों की पूरी सावधानी रखनी चाहिए !'

३. अणुव्रत : स्थूल चोरी का त्याग :-

स्थूल अदत्तादान विरमण :- "राज्य दण्ड दे, लोग निन्दा करें ऐसी चोरी मैं न करुं" यह प्रतिज्ञा । इसमें चोरी, लूंटमार, सेंध लगाना, जेब काटना, गठरी उठाना, टिकिट की चोरी, चुंगी की चोरी आदि का त्याग किया जाता है । इस व्रत के सुरीत्या पालनार्थ पाँच अतिचारों से बचना चाहिए चोर को शरण न देना, चोरी के माल का संग्रह न करना, नकली या मिलावट का माल न बेचना, राज्य विरुद्ध कार्य न करना, खोटे मापतोल न रखना ।

४. अणुव्रत : स्वस्त्रीसंतोष-परस्त्रीत्याग :-

स्थूल मैथुन विरमण :- परस्त्री, वेश्या, विधवा और कुमारी के भोग का त्याग और स्वस्त्री सन्तोष की प्रतिज्ञा । इसका भलीभांति पालन करने के लिए अनंग (काम के अंग के अतिरिक्त अंग को) क्रीड़ा :- तीव्र विषयासक्ति और दूसरो के विवाह न करने की सावधानी रखनी होती है ।

५. अणुव्रत : परिग्रह परिमाण :-

स्थूल परिग्रह विरमण :- धन, धान्य, जमीन, मकान, दुकान,

उद्यान, सोना-चांदी, हीरा-मोती आदि आभूषण; बर्तनभांडा, फर्नीचर, पशु, दास-दासी इस तरह नव प्रकार के परिग्रह का परिमाण नियत करना कि इससे अधिक नहीं रखूंगा' । अथवा इन सबकी कुल मूल्य या बाजारभाव की कींमत से रुपयों से अधिक मूल्य का परिग्रह नहीं रखूंगा । इससे अधिक आ जाय तो तत्काल धर्म कार्यो मैं खर्च करुंगा" ऐसी प्रतिज्ञा । ऐसा करते हुए बढ़ती हुइ भयावह मंहगाई का विचार रखना चाहिए । व्रत के पालनार्थ परिग्रह के परिमाण का विस्मरण नहीं होना चाहिए । अधिक परिग्रह को स्त्री-पुत्रादि के नाम रखकर उस पर अपना शासन या नियन्त्रण न रखा जाए । प्रतिज्ञा की कल्पना में परिवर्तन न किया जाये इत्यादि ।

६. गुणव्रत : दिशा परिमाण :-

ऊपर नीचे आधा या एक मील, और चारों दिशाओं में इतने मील की परिधि से, अथवा भारत के बाहर नहीं जाऊंगा ऐसी प्रतिज्ञा । इसका पालन करते हुए परिमाण को नहीं भूलना, एक दिशा में परिमाण कम करके दूसरी में आवश्यकतानुसार नही बढ़ाना-इत्यादि सावधानी रखनी चाहिए ।

७. गुणव्रत : भोगोपभोग परिमाण :-

'भोग' अर्थात् एक ही बार उपयोग में आने वाले अन्नपान, तांबूल विलेपन पुष्प आदि । 'उपभोग' अर्थात् बार-बार उपयोग में आने वाले घर, आभूषण, पलंग, कुर्सी, शय्या, वाहन, पशु आदि । सातवें व्रत

में अपनी शक्ति अनुसार आचरण-योग्य परिमाण निश्चित कर शेष के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है ।

अन्नपान में श्रावक यथासंभव सचित (सजीव) का त्याग करे, जैसे कि कच्चा पानी, कच्चा साग, सचित फल, अथवा उसी समय निकाला गया रस, कच्चा नमक आदि सचित कहे जाते हैं ।

प्रश्न - सचित्त के त्याग में सचित को अचित करते हुए अग्निकायादि के अनेक जीव मरते हैं । इसकी अपेक्षा तो सचित्त को खा ले तो क्या हानि है? इससे अग्निकायादि जीवो की हिंसा नही करनी पड़ेगी ।

उत्तरः यह ठीक है कि सचित्त का अचित्त करते हुए जीवो का नाश होता है, किन्तु सचित्त का उपयोग करते हुए सीधे अपने मुख से चबाकर निगलना हो यह अधिक निर्दयता है, अधिक क्रूर परिणाम है । धर्म; आत्मा के कोमल परिणाम में निहित है । अचित्त की अपेक्षा सचित्त अधिक विकारी है । अतः सचित्त का त्याग आवश्यक है ।

प्रश्न- क्या-क्या अचित्त है?

उत्तर- उबला हुआ पानी, ठीक तरह पकाया गया साग काटने और बीज पृथक करने के दो घड़ी बाद का पका फल अथवा रस (पके हुए केले में बीज नहीं होता अतः वह बिना काटे भी अचित्त है), लाल छांट रहित सफेद सिंधव, भठ्ठी में पकाया गया नमक,

फुलाइ हुइ फिटकरी आदि अचित्त हैं । अन्त में कुछेक सचित्त खुले रखकर बाकी का त्याग तथा पर्वतिथि, चौमासे आदि में सचित्त का सर्वथा त्याग करना ।

इस व्रत में २२ अभक्ष्य, ३२ अनन्तकाय का त्याग करना होता है, इसी प्रकार १५ कर्मादान त्याज्य हैं । (इसका स्पष्टीकरण बाद के प्रकरण में किया जायेगा)

सातवें व्रत में धान्य, शाग-भाजी, फल, मेवा मसाले आदि के आवश्यक नाम नोट करके उनके अतिरिक्त शेष का जीवन पर्यन्त उपयोग न करने का नियम लिया जाता है । इसी प्रकार आगे 'व्रत नियम' के प्रकरण में बताया जायेगा कि १४ नियमो का आजीवन परिमाण नियत किया जाता है । जैसे कि आजीवन प्रतिदिन २०द्रव्यो से अधिक का उपयोग नहीं

करुँगा । बाद में हर रोज इतने या इससे कम नियत किये जाते हैं ।

८. गुणव्रत : अनर्थदण्ड विरमणव्रत :-

जीवन जीने के लिए अनावश्यक वस्तुओं का त्याग करना । अन्यथा अनर्थ = निष्प्रयोजन दंड भागी होना पड़ता है । अनर्थ के रूप में चार बातें हैं, i. दुर्ध्यान, ii. अधिकरण (पाप के साधन) का प्रदान, iii. पापोपदेश, iv. प्रमादाचरण । पहले तीन का तो सतत

सावधान रहते हुए अर्थात् भूल होने पर दण्ड भरने का रखकर त्याग करना और चौथी बात का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करना । जैसे कि -

i. दुर्ध्यान में :- १. इष्ट वस्तु प्राप्त हुई अथवा प्राप्त होगी, या अनिष्ट वस्तु चली गई या चली जायेगी इस पर अत्यन्त हर्ष, उन्माद का चिन्तन अथवा यह टिको या न जाओ इस प्रकार चिंतन ।

ii. यह नष्ट हो गयी, अथवा स्थिर नहीं रही, या अनिष्ट आ गयी वे आये या न आये इस पर अधिक उद्वेग का चिन्तन ।

iii. रोग की अवस्था में हाय वोय की अथवा दुःख की व्यथा के कारण रोग-नाश, वैद्य, औषधि, अनुपानादि का चिन्तन ।

iv. पौद्गलिक पदार्थो की अत्यधिक आशंसा (अभिलाषा) की यह आर्तध्यान हुआ ।

इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी व संरक्षण का घोर ध्यान यह रौद्रध्यान है । ऐसे दुर्ध्यान से बचना चाहिए । यह नहीं करना चाहिए ।

ii. अधिकरण :- अर्थात् घंटी, अग्नि, हल, चाकू, लगुड आदि जीवघातक शस्त्र, ओखली, दस्ता, मूसल, लकड़ी, साबुन, अग्नि मिट्टी का तेल आदि पाप के साधन तथा विषय-साधन दूसरों को नहीं देने चाहिए ।

iii. पापोपदेश :- अर्थात् किसी को क्लेश, कलह, पाप के धंधे, हिंसक कार्य, हिंसा, झूठ, चोरी आदि की राय नहीं देनी । इसी

प्रकार कामोत्पादक वचन, मोहचेष्टा, वाचालता, अत्यधिक तथा उद्‌भट भोग आदि का आचरण नहीं करना चाहिए ।

iv. प्रमादाचरण में :- सिनेमा, टि.वी., विडीयो, नाटक, खेल, तमाशा, श्रृंगारी चित्र-प्रदर्शन, पशु युद्ध, क्रिकेट आदि बड़े-बड़े खेल आदि न देखने की तथा ताश आदि न खेलने की प्रतिज्ञा । यह सर्वथा शक्य न हो तो नियत प्रमाण से अधिक न देखने की प्रतिज्ञा । फांसी, पशु-युद्ध, मल्ल-युद्ध आदि जीवघातक दृश्य या प्रसंग न देखने की प्रतिज्ञा ।

इसी प्रकार शौख या चाह के लिए तोता, कुत्ता, कबूतर आदि न पालने । विलासी उपन्यास, नवलिका, अखबार पत्र-पत्रिकायें न पढ़ने तथा नदी, तालाब, वावड़ी आदि में शौख से स्नान न करने की प्रतिज्ञा । अन्य अनावश्यक बातो का भी त्याग करना चाहिए ।

उपर्युक्त सिनेमा, नाटक आदि के प्रमाद-आचरण आत्मा की काम-वासना, बाह्य भाव और कषायो की ओर आकृष्ट करने वालें हैं । श्रावक को यह तीव्र चिन्ता होती है कि 'सर्वथा निष्पाप जीवन कब मिलेगा ।' अतः वह आत्मा की उच्च प्रगति के बाधक बाह्य भावो और कषायो का पोषण नहीं करे ।

९. शिक्षाव्रत : सामायिक :-

अनन्त जीवो को अभयदान देने वाली अहिंसा और सत्यादि व्रत

के तथा समभाव के लाभ के लिए सांसारिक समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग कर, विधिपूर्वक प्रतिज्ञा लेकर, कटासन पर बैठकर दो घड़ी के लिए ज्ञान-ध्यान करना; यह सामायिक कहलाता है । यह प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि प्रतिदिन या प्रतिमास या प्रतिवर्ष इतने सामायिक करुंगा ।

प्रश्न- ऐसी प्रतिज्ञा से विशेष लाभ क्या है? बिना प्रतिज्ञा भी सामायिक किया जाय तो उसका लाभ तो होगा ही ।

उत्तर- ऐसे ही बिना प्रतिज्ञा सामायिक करने पर तभी लाभ मिलता है जब व्यक्ति सामायिक मैं बैठता है । यदि मास, वर्ष या जीवन पर्यंत की प्रतिज्ञा लेकर सामायिक किया जाये तो प्रतिज्ञा का अखंड सतत लाभ मिलता है जो कि अतिरिक्त समझना चाहिए । 'जावमणे होइ नियमसंजुत्तो; छिन्नइ असुहं कम्म' @@=@@ जीव जहां तक मन में नियम के उपयोगवाला होता है वहाँ तक अशुभ कर्म नाश होता रहता है ।

सामायिक में मन-वचन-काया को पापमय प्रवृत्ति, विकथा, सामायिक का विस्मरण आदि न हो, यह सावधानी रखनी चाहिए ।

१०. शिक्षाव्रत : देशावकाशिक :-

इसमें मुख्यतः अमुक स्थान का निश्चय कर उससे बाहर नहीं जाना है और बाहर के साथ कोइ सबंध नही व व्यवहार भी नहीं

करना एवं धर्म ध्यान में रहना है । इस बात की कुछ समय तक प्रतिज्ञा की जाती है जैसे कि, ०। घंटा, ०।।-घंटा, या सूर्योदय तक, सूर्यास्त तक, या कोई मिलने आए वहाँ तक यह व्रत । इस व्रत से जगतभर के पापो से बच जाते हैं । इसमें दूसरे व्रतो को संक्षिप्त किया जाता है । चालू प्रणालिका में यह प्रतिज्ञा की जाती है कि 'कम से कम एकासने का तप रखकर दिन भर में दो प्रतिक्रमण तथा आठ सामायिक करने का देशावकाशिक व्रत वर्ष में इतनी संख्या में करुंगा ।' हां, इस व्रत के मर्म के पालनार्थ इस सामायिक से बचे हुए समय में सांसारिक प्रवृत्तियों में रत न होकर ज्ञान, ध्यानादि धर्मप्रवृत्ति में ही दिन व्यतीत करना हितकर है ।

इस व्रत में यह सावधानी भी रखनी होती है कि नियत की गयी मर्यादा के बाहर से न तो किसी को बुलाना है और न भेजना है ।

११. शिक्षाव्रत : पौषध :-

'पौषध' का अर्थ धर्म का पोषण करनेवाला है । इसमें दिन, रात या दिन-रात के लिए पूर्ण सामायिक के साथ आहार, शरीरसत्कार, व्यापार के त्याग तथा बह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर आवश्यक क्रियाओं और ज्ञान-ध्यान में रत रहना । इससे आन्तरिक धर्म का पोषण होता है, अतः इसे पौषध कहते है । इसमें समिति गुप्ति का पालन करना होता है ।

१२. शिक्षाव्रत :- अतिथि संविभाग :-

'अतिथि' अर्थात् साधु-साध्वी, को 'संविभाग' दान देने का व्रत । प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार चउविहार अथवा तिविहार उपवास के साथ दिन-रात का पौषधव्रत करके पारणे में एकासना करके मुनि को आहार-पानी वहोराने (देने) के बाद भोजन करना चाहिए । यदि गाँव में साधु-साध्वी न मिले तो साधर्मिक की भक्ति करने के बाद आहार लेना यह अतिथि संविभाग व्रत है । यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि 'एक वर्ष में इतने अतिथि संविभाग करूंगा' इसके सम्यक पालन के लिए मुनि को दान देने मैं छल-कपट न हों, भिक्षा या गोचरी के समय की उपेक्षा न हो आदि बातों का ध्यान रखना चाहिए ।

इन बारह व्रतो को पूरे रूप में अथवा कम या एक व्रत तक भी ग्रहण किया जा सकता है । अभ्यासार्थ कुछ अपवाद रखकर भी धारण किया जा सकता है । कुछ समय के लिए भी ये व्रत लिये जा सकते है ।

(३१)

भाव - श्रावक

भाव के बिना बाहर से अर्थात् दिखावे-कपट-लालच आदि के कारण जो श्रावकपन की क्रिया करता है, उसे 'द्रव्य-श्रावक' कहते हैं । और जो आंतरिक शुद्ध भाव से श्रावकपन की क्रिया करता

हो, उसे 'भाव-श्रावक' कहते हैं ।

'भाव श्रावक' बनने के लिए । (१) आचरण में ६ क्रियागत लक्षण (गुण)' तथा (२) हार्दिक भाव में १७ 'भावगत लक्षण (गुण)' आवश्यक हैं । वे ये हैं, -

भाव-श्रावक के ६ क्रियागत गुणः- (१) कृतव्रत-कर्मा, (२) शीलवान, (३) गुणवान, (४) ऋजु-व्यवहारी, (५) गुरु-शुश्रूषु, और (६) प्रवचन-कुशल । इनमें से प्रत्येक के जनक-समर्थक अवान्तर अनेक गुण है, जैसे कि-

१. कृत व्रतकर्मा का आराधक बनने के लिए - (i) व्रतधर्म-श्रवण (ii) सुनकर व्रत के प्रकार, अतिचार आदि की जानकारी (iii) पूरे अथवा अल्पकाल के लिए व्रतधर्म का स्वीकार और (iv) रोग या विघ्न में भी दृढता पूर्वक धर्मपालन । इन चारों में उद्यमी होने वाला वह व्यक्ति कृतव्रत-कर्मा कहलाता है ।

२. शीलवान यानी चारित्रवान बनने के लिए - (i) आयतन-सेवन अर्थात् सदाचारी, ज्ञानी तथा सुंदर श्रावक धर्म के पालन करनेवालें साधर्मिको के सांनिध्य में ही रहना, क्योंकि इससे दोषो में कमी तथा गुणो में वृद्धि होती रहती है । (ii) बिना काम दूसरों के घर नहीं जाना (इस में भी दूसरे घर में अकेली स्त्री हो तो वहां बिल्कुल नहीं जाना । क्योंकि कामासक्ति या कलंक लगने कि संभावना है । (iii) कभी भी उद्‌भट यानी औचित्यहीन वेष धारण नहीं करना ।

क्योंकि इसमें हृदय का रोगविह्वलता है, अशान्तता है । धर्मात्मा तो शांत ही शोभायमान होता है । (iv) असभ्य या विकारी वचन नहीं बोलने चाहिए, क्योंकि इससे प्रतिष्ठा हानि या कामराग जाग्रत होता है । (v) बच्चों जैसी चेष्टाए न करना । बालक्रीडा, जुआ, व्यसन, चोपड आदि न आचरना, न खेलना, क्योंकि वे मोह के लक्षण हैं, व अनर्थदडं है । (vi) दूसरों से मधुर वाणी से काम लेना, क्योंकि शुद्ध धर्मवाले को कर्कशवाणी शोभा नहीं देती ।

३. गुणवान बनने के लिए - (i) वैराग्य-वर्धक शास्त्रस्वाध्याय-(अध्ययन-चिन्तन-पृच्छा-विचारणादि) में उद्यमी रहना । (ii) तप-नियम-वंदन आदि क्रियाओं में उद्यमशील रहना । (iii) बड़ो व गुण-संपन्न आदि का विनय करना (उनके आने पर उठना, सामने जाना, आसन पर बिठाना, कुशल पूछना, विदा करने जाना आदि) (iv) कही भी अभिनिवेश अर्थात् दुराग्रह न रखना । हृदय में शास्त्र के कथन को मिथ्या न मानना । तथा (v) जिनवाणी के श्रवण में सदा तत्पर रहना, क्योंकि इसके बिना सम्यक्त्वरत्न की शुद्धि कैसे होगी?

४. ऋजुव्यवहारी बनने के लिए :- (i) मिथ्या या मिश्रित अथवा विसंवादी (स्वतः विरुद्ध) वचन न बोलना, किन्तु यथार्थ वचन कहना, जिससे श्रोता को भ्रम न हो, अबोधि बीज न हो, और असत् प्रवृत्ति से भववृद्धि न हो । श्रावक के लिए सरल व्यवहारी बनना ही समुचित है । (ii) प्रवृत्ति अथवा व्यवहार दूसरों को ठगने वाला

न होकर निष्कपट हो, वैसा ही करना । (iii) भूलते हुए जीव को भूलो के अनर्थ बताना, और (iv) सबके साथ हृदय से मैत्रीभाव-स्नेहभाव रखना ।

५. गुरु-शुश्रूषु बनना :- (i) गुरु के ज्ञान-ध्यान में विघ्न न हो व अच्छी सुविधा रहे इस प्रकार उनकी स्वयं समयोचित अनुकूल सेवा करनी । (ii) गुरु के गुणानुवाद करके दूसरो को उनके प्रशंसन सेवक बनाना । (iii) उनके लिए स्वंय या दूसरों से आवश्यक औषधि आदि का प्रबन्ध करना, कराना, और (iv) सदा बहुमानपूर्वक गुरु की इच्छा का अनुसरण करना ।

(६) प्रवचन-कुशल बनना :- सूत्र, अर्थ, उत्सर्ग, अपवाद, भाव और व्यवहार में कुशल होना । अर्थात् (i) श्रावक के योग्य सूत्र व शास्त्रो को पढ़ना । (ii) उनके अर्थ सुनना, समझना । (iii-iv) धर्म में 'उत्सर्ग मार्ग' अर्थात मुख्य मार्ग कौनसा है? उसी प्रकार कैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में कब किस-विषय में किस प्रकार के अपवाद का सेवन करना? इसे जानना (v) सारी धर्मसाधना विधिपूर्वक करने का पक्षपात रखता, और (vi) किस देश-काल के योग्य शास्त्रज्ञ गुरु का कैसा कैसा व्यवहार व वर्तन होता है, इसे समझना, व इसका लाभानुलाभ सोचना ।

भाव श्रावक के भावगत १७ लक्षण (गुण) :-

१ स्त्री, २ धन, ३ इन्द्रिय, ४ संसार, ५ विषय, ६ आरंभ, ७ गृह,

८ समकित, ९ लोकसंज्ञा, १० जिनागम ११ दानादि, १२ धर्मक्रिया, १३ अरक्तद्विष्ट (मध्यस्थ) १४ अनागृही, १५ असंबद्ध, १६ परार्थभोगी, १७ वेश्यावत् गृहवास, इन १७ विषय पर विचारणा करनी ।

१. स्त्री को पापो व अनर्थ की प्रेरक चलचित्त और नरक की दूती समझकर हितार्थी उसके वश में न होकर, उससें आसक्त न हो ।

२. धन यह अनर्थ क्लेश और कलह की खान है, ऐसा समझकर इसका लोभ न करना ।

३. सब इन्द्रियां आत्मा की भाव शत्रु है, जीव को दुर्गति में घसीट कर ले जाने वाली है । ऐसा समझकर उन पर अंकुश रखना ।

४. संसार पाप-प्रेरक है, दुःख रूप है, दुःखदायी है, व दुःखानुबंधी (दुःख की परंपरा को देनेवाला) है । यह विचार रखकर इससे मुक्त होने के लिए आतुरता व शीघ्रता रखनी ।

५. शब्द, रुप, रस, गंध, स्पर्श ये सब विषयो विष (जहर) रुप है, अतः इनसे राग-द्वेष न करना! विषयाँ सत् चैतन्य के मारक होने से विषरुप है ।

६. सांसारिक कार्य आरंभ-समारंभमय जीवघात से पूर्ण है, ऐसा सोचकर बहुत कम आरंभो से चलाना ।

७. घरवास षट्कायजीव-संहारमय व अठारह पापस्थानको से पूर्ण

है, ऐसा विचार कर इसे पाप-सेवन की पराधीनता की बेडीरुप होने से कारागार-निवास जैसा समझना । साधु-दीक्षा के लिए इसे छोडने का भरचक प्रयत्न करना ।

८. सम्यक्त्व को चिंतामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान ओर अति दुर्लभ समझकर सतत शुभभावना ओर शुभ कृत्यो से एवं शासन की सेवा व प्रभावना द्वारा सम्यक्त्व को स्थिर रखना, इसे निर्मल *करते रहना, इसके सामने महान वैभव भी तुच्छ जानना ।*

९. लोकसंज्ञा अर्थात् गतानुगतिक लोक की प्रवृत्ति और मानाकांक्षा की ओर आकृष्ट न होकर सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना ।

१०. 'जिनागम के बिना लोक अनाथ है, क्योंकि जिनागम को छोडकर कोई परलोकहित का सच्चा मार्ग बताने वाला नहीं है' - ऐसी दृढ श्रद्धा से जीवन में जिनाज्ञा को प्रधान करनी अर्थात् जिनागम को ही सन्मुख (ध्यान में) रखकर सब कार्य करना ।

११. दानादि धर्म को आत्मा की अपनी परलोकानुयायी संपत्ति समझकर, शक्ति को छिपाये बिना, अच्छी प्रकार दानादिआचरण में आगे बढना ।

१२. दुर्लभ तथा चिंतामणि रत्न के समान अमूल्य एकान्त हितकारी निष्पाप धर्मक्रिया का यहाँ स्वर्णिम अवसर मिला है, इसका सुरीत्या उपयोग करते हुए यदि इस में अज्ञानी कभी हंसी-मजाक

भी करें, तो उससे लज्जित नहीं होना, किन्तु उसकी उपेक्षाकर धर्मक्रिया में बहुत उद्यत रहना ।

१३. धन, स्वजन, आहार, गृह आदि को मात्र देह - निर्वाह के साधन मानकर, ऐसे सांसारिक पदार्थो में राग द्वेष न करते हुए, मध्यस्थ रहना ।

१४. उपशम को ही सुख रूप और प्रवचन का सार समझकर उपशम प्रधान विचारो में ही रमण करना । मध्यस्थ और स्व-पर हितकारी रहते हुए किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं करना, सत्य का आग्रही बना रहना ।

१५. समस्त वस्तु की क्षणभंगुरता मन में सतत भावित करते रहना, व स्वजनादि में बैठे हुए भी 'इन सब का संयोग भी

नाशवंत है' ऐसा समझकर इन्हें 'पर' मान लेना, अंतर से असंबद्ध रहना, अर्थात् इन पर आंतरिक ममता का संबंध न रखना ।

१६. संसार के प्रति विरक्त मनवाला बनकर "भोग-उपभोग कभी तृप्ति के करने वाले नहीं, इन से कभी तृप्ति नहीं होती है, वरना इन की तृष्णा बढती है ।" ऐसा मानकर, अगर कामभोग में प्रवृत्त भी होना पडे तो वह केवल कुटुंबीयों का मुंह रखने के लिए ही प्रवृत्त होना, किन्तु इन्हें मौज-शौक समझकर नहीं ।

१७. गृहवास में निराशंस-निरासक्त बनकर इसे पराया समझता

हुआ, वेश्या के समान निर्वाह करे, और गृहवास को निष्फल वेठ-विटंबना रूप समझता हुआ इसे 'आज छोडूं, कल छोडूं' ऐसी भावना में रमता रहे ।

(३२)
साधु-धर्म (साध्वाचार)

प्रवेशक्रम-सच्ची धर्म साधना करने में मूल उपाय है, संसार से वैराग्य अर्थात् संसार के जन्म-मरण इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, रोग-शोक, आधि-व्याधि-उपाधि, पाप-सेवन व कर्मो की भयंकर गुलामी के कारण संसार से ऊब जाना यह वैराग्य है । इस संसार से छुटकर मोक्ष प्राप्ति की तमन्ना होती हैं । इस प्रकार ऊब जाना यानी वैराग्य पहले पाना होता है ।

वैराग्य होने पर भी अभी मोह की परवशता तथा शक्ति की न्यूनता के कारण गृहस्थवास में रहना पड़ता है, फिर भी धर्मसाधना का पालन चलता है । परन्तु दैनिक जीवन में जो गृहवास के कारण असंख्य षट्काय-जीवो का संहार तथा १८ पापस्थानको का सेवन करता पडता है । वह उसे अत्यन्त खटकता है । अतः वह वैराग्य-वृद्धि और धर्म के वीर्योल्लास की वृद्धि के प्रयत्न में रहता है । वैराग्य पर्याप्त मात्रा में बढ़ने पर वह गृहवास, कुटुंब-परिवार, धन-सम्पत्ति और आरंभ-समारंभ के जीवन से अत्यन्त ऊबकर उसका त्याग कर देता है और योग्य सद्गुरु के चरणों में अपना जीवन समर्पित

कर देता है । वह अहिंसा, संयम और तप का कठोर जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर रहता है ।

गुरु भी उसकी श्रद्धा व वैराग्य की परीक्षा कर उसे दृढ व समर्पित देखकर अरिहंत परमात्मा की साक्षी में मुनि-दीक्षा देते हैं, जीवनभर के समस्त सावद्य व्यापार (पापप्रवृत्ति) का त्याग कराते हैं, इसके लिए यावज्जीव के सामायिक की प्रतिज्ञा कराते हैं । उसे पूर्व जीवन की किसी प्रकार की स्मृति न हो इस उद्देश से उसका नाम भी नया रखा जाता हैं । यह छोटी दीक्षा है सामायिक चारित्र है ।

इसके पश्चात् उसे साध्वाचार और पृथ्वीकायादि षट् जीव-निकाय की रक्षा की जानकारी व तालीम यानी शिक्षा दी जाती है, यह है 'आसेवन-शिक्षा' । एवं शास्त्रो का अध्ययन भी कराया जाता है, यह है 'ग्रहण-शिक्षा' । तदुपरान्त उसे तप के साथ सूत्र का योगोद्वहन कराया जाता है । बाद में योग्य समझकर उसे हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह; ये पांच पाप सूक्ष्मरूप से भी 'मन-वचन-काया से करूं नहीं, करवाऊं नहीं, उनका अनुमोदन भी नही करूं' ऐसी त्रिविध-त्रिविध से प्रतिज्ञा कराई जाती है । अहिंसादि महाव्रतो का यह उच्चारण (स्वीकार) 'बडी दिक्षा' है । यह 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' है । इस में पूर्व-स्खलित चारित्र-पर्याय का छेद के साथ महाव्रतों में उपस्थापन आरोहण है ।

साधु की दिनचर्या :-

रात्रि के अंतिम प्रहर के शुरू होते ही वह निद्रा का त्याग कर *पंचपरमेष्ठि-स्मरण, आत्म- निरीक्षण* तथा गुरू चरणो में नमस्कार करते हैं । तत् पश्चात् इरियावहियं कर के कुस्वप्न-शुद्धि का कायोत्सर्ग करते हैं । बाद में चैत्यवंदन करने पूर्वक स्वाध्याय, ध्यान करते हैं । प्रहर के अन्त में प्रतिक्रमण करके वस्त्र-रजोहरणादि की प्रतिलेखना करते हैं, तब तक में सूर्योदय हो जाता है ।

सूर्योदय से सूत्र-पोरिसी शुरू होती है । सूत्र-पोरिसी में सूत्राध्ययन करके ६ घडी दिन चढने पर वह पात्र-प्रतिलेखना करते हैं । तदनन्तर मंदिरजी में दर्शन चैत्यवंदन करके वापिस आकर अर्थ-पोरिसी में सूत्रार्थ का अध्ययन करते हैं । गाँव में भिक्षा के समय गोचरी (जैसे गाय किसी को पीडा न देती हुई चरती है, इस प्रकार की ४२ दोष मुक्त भिक्षा) लेने जाते हैं । इसमें ४२ दोषो का त्याग करते हुए अनेक बदलते घरो से भिक्षा लाकर गुरू को दिखाते हैं, और वहाँ ली हुई गोचरी की विगत बताते हैं । फिर पच्चक्खाण पारकर सज्झाय ध्यान करके आचार्य, उपाध्याय, बाल, ग्लान, तपस्वी, अतिथि आदि की भक्ति करते हैं और स्वयं राग-द्वेषादि ५ दोष को टालकर आहार इस्तेमाल करते हैं । तत्पश्चात् गाँव के बाहर स्थंडिल (निर्जीव एकांत) भूमि में जाकर शौच से निवृत्त होते हैं व तीसरे प्रहर के अंत में वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करते हैं । चौथे प्रहर

में स्वाध्याय कर गुरुवंदन-पच्चक्खाण करके रात्रि को लघुशंकादि के लिए जाना पड़े उसके लिए निर्जीव स्थान पहले से देख लेते है । देखकर प्रतिक्रमण करते है । तदनन्तर गुरू की उपासना करके तथा रात के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करके संथारा पोरिसी पढ़कर सो जाते हैं ।

(१) साधु जीवन में सब कुछ गुरु को पूछकर ही करना होता है । (२) रूग्ण=बीमार मुनि की सेवा का विशेष ध्यान रखना होता है । इसके अतिरिक्त (३) आचार्यादि की सेवा और गुरु आदि की विनय-भक्ति करना । (४) छोटी-मोटी हरेक स्खलना का, गुरु के समक्ष बालभाव से वह प्रगट कर, प्रायश्चित्त लेना होता है । (५) शक्यता के अनुसार प्रतिदिन एकासन एवं विगईयों का त्याग करना । (६) पर्वतिथि में विशेष तप । (७) वर्ष में तीन या दो बार केशों का हाथ से लोच करना । (८) शेषकाल में ग्रामानुग्राम पाद-विहार करना । (९) सूत्र व अर्थ का बहुत बहुत पारायण आदि अवश्य करने का होता है (१०) परिग्रह और स्त्रीयों से सर्वथा अलिप्त रहना, किसी भी प्रकार का परिचय, बातचीत, निकटवास, आदि बिलकुल न किया जाए । इसी प्रकार (११) स्त्री-भोजन-देश और राज्य-संबन्धी एवं कुथली की बाते न करे । संक्षेप; में मन को आन्तर भाव से बाह्य-भाव की और ले जाने वाली कोई भी वाणी, विचार अथवा वर्ताव-व्यवहार नहीं करना है । इसीलिए गृहस्थ-पुरूषों का भी विशेष संपर्क नहीं रखना चाहिए ।

साधु-जीवन में 'इच्छाकारादि' दश प्रकार की सामाचारी व अन्य अनेकविध आचार अष्टप्रवचनमाता (५ समिति, ३ गुप्ति), संवर निर्जरा, तथा पंचाचार का अवश्य पालन करना होता है ।

१०. सामाचारी :- (१) इच्छाकार :- साधु को अपना काम मुख्यतःस्वयं करना होता है । यदि कारणवश दुसरे साधु से कराना पडे तो 'आप यह कार्य करेंगे?' ऐसी उसकी इच्छा पूछकर कराना ।

(२) मिथ्याकार :- भूल ही जाए तो तत्काल 'मिच्छामि दुक्कडं' (मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।) कहना

(३) तथाकार :- गुरु कुछ आदेश करे तो उसी समय 'तहत्ति' (वैसा हो) कहना ।

(४) आवश्यकी :- बाहर जाने से पहले, आवश्यक लघुशंका-बड़ीशंका को निपटाकर 'आवस्सही' (मैं ने आवश्यक निपटाया) कहकर निकलना ।

(५) नैषेधिकी :- मुकाम में प्रवेश करते हुए 'निस्सीहि' ('बाहर की प्रवृत्ति का त्याग') कहना ।

(६) पृच्छना :- कोई भी कार्य करने से पहले गुरु से पूछना ।

(७) प्रतिपृच्छना :- कार्य के लिए बाहर जाते समय गुरु से पुनः पूछना ।

(८) छंदना :- आहार वापरने से पहले मुनियों से छंद अर्थात् इच्छा पूछना की 'क्या इसमें से लाभ देंगे?'

(९) निमन्त्रणा :- भिक्षा लेने जाने से पूर्व मुनियों को निमन्त्रण करना 'आपके लिए में क्या लाऊं?'

(१०) उपसंपदा :- तप, विनय, श्रुत आदि की तालीम के लिए उसके योग्य अन्य आचार्य की निश्रा सांनिध्य का स्वीकार करना ।

अन्य भी आवश्यक स्वाध्याय आदि आचारों हैं । संवर, '८' प्रवचनमाता, पंचाचार व १२ निर्जरा मार्ग की भी आराधना करनी होती है ।

(३३)
ध्यान

ध्यान का कुछ वर्णन 'निर्जरा' तत्त्व में पांचवें ध्यान तप में आया है । इसका सारांश यह है,- 'ध्यान' का अर्थ है एक विषय पर एकाग्र चित्त यानी चिन्तन । उसके दो प्रकार हैं :- शुभ ध्यान, अशुभ ध्यान । अशुभ ध्यान तप नहीं है, कर्म का नाशक नहीं है, प्रत्युत कर्म का आश्रव है । ध्यान यह तप है, यह अपूर्व कर्मनाश करता है । ऐसे शुभ ध्यान से कर्म बहुत वेग से क्षीण होते हैं । अशुभ ध्यान के दो प्रकार हैं, (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान । इन दोनों में हरेक के चार-चार प्रकार है । इन्हे चार 'पाए' भी कहे

जाते हैं ।

आर्तध्यान के ४ प्रकार में (१) इष्ट संयोगानुबंधी (२) अनिष्ट वियोगानुबंधी (३) वेदनानुबंधी (४) निदान यानी पौद्‌गलिक सुखो की आशंसा संबंधी ।

रौद्रध्यान के चार प्रकार में, - (१) हिंसानुबंधी, (२) मृषानुबन्धी, (३) स्तेयानुबंधी, (४) संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान ।

शुभ ध्यान के दो प्रकार हैं :- (१) धर्मध्यान और (२) शुक्ल ध्यान ।

(१) धर्मध्यान के चार प्रकार है :- (i) आज्ञाविचय, (ii) अपायविचय, (iii) विपाकविचय, (iv) संस्थानविचय ।

(२) शुक्ल ध्यान के चार प्रकार है :- (i) पृथक्त्व-वितर्कसविचार, (ii) एकत्ववितर्कअविचार, (iii) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति और (iv) व्युच्छिन्नक्रियाअनिवर्ति ।

इतने का वर्णन निर्जरातत्त्व के ध्यान-तप में किया गया है । अब शुभ ध्यान की विशेष बातें :-

धर्मध्यान के दस प्रकार :-

आवश्यक सूत्र के 'चउहिं झाणेहिं' पद के भाष्य में ध्यान के प्रसंग में विशेषतः ध्यानशतक नाम के प्रकरण के अन्तर्गत उपर्युक्त

आर्त-रौद्र आदि चार प्रकार के ध्यान में से प्रत्येक पर, दश बारह बातों पर आधारित सुन्दर प्रतिपादन किया गया है । इसमें एक-एक ध्यान के अधिकारी, लिंग, लक्षण, फल आदि और विशेष रूपेण शुभध्यान के विषय पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि अशुभ ध्यान की स्थिति को शुभध्यान में कैसे परिवर्तित किया जा सके । श्री 'सन्मतितर्क' की टीका, 'शास्त्रवार्ता' तथा 'अध्यात्मसार' में धर्मध्यान के दश प्रकार बताए गए है, जिनमें से घटित प्रकार को ग्रहण कर आर्त, रौद्र के प्रस्तुत प्रकार से बचकर शुभ ध्यान की ओर जा सके ऐसा संभव है ।

धर्मध्यान के दस प्रकार :-

१. अपाय, २. उपाय, ३. जीव, ४. अजीव, ५. विपाक

१-२. अपायोपाय, ३ - ४. जीवाजीव, ५. विपाक, ६. विराग, ७. भव, ८. संस्थान, ९. आज्ञा व १०. हेतु विचय ।

इनका ध्यान करने के लिए अपाय आदि पर मन को केन्द्रित करके इस प्रकार चिंतन करना चाहिए -

१. अपायविचय :- 'अहो! अशुभ मन, वचन, काया और इंद्रियों की विशेष प्रवृत्तियों से अर्थात् विशेष कोटि के अशुभ विचार-वचन-वर्ताव से और इंद्रिय - विषयो के संपर्क से कितने भयंकर अपाय (अनर्थ) उत्पन्न होते हैं । इन को मैं क्यों मोल लूं?'

मान लो किसी व्यक्ति को बड़ा राज्य हस्तगत जैसा हो फिर वह जुआ खेलने की मूर्खता क्यों करे, वैसे मोक्ष मेरे अधिकार में होने पर भी में विषयों में सबडने की मूर्खता क्यों करूं? ऐसी शुभ विचार धारा से दुष्ट योगो के त्यागार्थ परिणाम भाव जाग्रत होते है ।

२. उपायविचय :- 'अहो! शुभ विचार, वाणी, और वर्ताव को किस प्रकार मैं विस्तृत करूं कि जिससे मेरी आत्मा मोहपिशाच से सुरक्षित रहे' ऐसे संकल्प धारण करने से शुभ प्रवृत्तियों के स्वीकार की परिणति (सद्भावना) उभरती है ।

३. जीवविचय :- इसमें जीव के अनादिपन, असंख्य प्रदेश, साकार-निराकार (ज्ञान, दर्शन) उपयोग, कृत्य कर्म के भोग की अनिवार्यता आदि स्वरूप का स्थिर चिन्तन किया जाता है । वह जड़ कायादि को छोडकर केवल स्वात्मा पर ममत्त्व करने के लिए उपयोगी है ।

४. अजीवविचय :- इसका आशय है-पांच जड द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गल द्रव्यों के क्रमशः गति-सहाय, स्थिति-सहाय, अवकाशदान, वर्तना, तथा रूप-रसादि गुणो व अनन्त पर्याय रुपता का चिन्तन करना । इससे शोक, रोग, व्याकुलता, निधन, देहात्म-अभेद भ्रम आदि दूर होते है ।

५. विपाकविचय :- कर्म की मूल उत्तर प्रकृतियों के मधुर एवं

कटु फलों का विचार किया जाता है । शुभ कर्म के विपाक में अरिहंत प्रभु की समवसरणादि संपत्ति से लेकर, नरक तक की घोर वेदनाओं की उत्पत्ति का विचार करना । इससे अशुभ कर्म के विपाक में अंतिम कर्म फल की अभिलाषा दूर होती है ।

६. विरागविचय :- इसमें काय, कुटुम्ब, विषयों तथा गृहवास के प्रति वैराग्य की विचारधारा प्रवाहित होती है । अहो! (i) वह कैसा जस्ते (कथिर) का शरीर; जो कि मात्र आहार की पीब में से पुसाया व अपवित्र रसरूधिर से निर्मित हुआ । बाद भी यह मल - मूत्रादि अशुचि वस्तुओं से भरा हुआ है फिर शराब के घट के समान इसमें जो भी वस्तु डाली जाए उसे अशुचि अपवित्र करने वाला है । उदाहरणार्थ मिष्टान को विष्टा, तथा पानी को पेशाब, अरे! अमृत को भी पेशाब बना डालता है । ऐसा शरीर उत्पत्ति के बाद भी सतत ९-१२ द्वारों से अशुचि को प्रवाहित करने वाला है । अपि च, वह विनश्वर है, स्वयं रक्षण हीन है । और वह आत्मा के लिए भी रक्षण रूप नहीं है ।

(ii) कुटुम्ब में भी मृत्यु अथवा रोग के आक्रमण के समय माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी, पौत्री आदि कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता । तब इसमें भव्य यानी सुन्दर है ही कौन? इसके अतिरिक्त

(iii) यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, आदि विषयो पर दृष्टि डाले

तो ज्ञात होगा कि इनका भोग विषाक्त किंपाकफल के भक्षण के समान परिणाम में कटु है ।

(iv) यह शरीर अवश्यमेव सहज विनाशी है । और शरीर-इन्द्रियां पराधीन भी है । एवं संतोष-रूपी अमृतों स्वाद के विरोधी है । सत्पुरूषो ने इसलिए इन सब को असार कहा है ।

(v) विषयो से प्रतीत होनेवाला सुख भी बालक द्वारा लार (राल) चाटने से अनुभूत होनेवालें काल्पनिक दूध के अस्वाद के समान सुखाभास है । विवेकी पुरूष को इसमें आस्था न होनी चाहिए । इसलिए विरति ही श्रेयस्कर है

(vi) गृहवास जलते हुए घर के मध्यभाग के समान है । जिसमें जलती हुई इंद्रियाँ पुण्य रूपी लकड़ी को जला देता हैं व अज्ञान-परम्परा का धुंआ फेला देती हैं । इस आग को धर्म मेघ ही शान्त कर सकता है । अतः धर्म में ही प्रयत्नशील रहने योग्य है । इस प्रकार यह सोचना चाहिए कि राग के साधन कल्याण के विरोधी हैं । ऐसे विचार परम आनन्द की अनुभूति कराते हैं ।

७. 'भवविचय' :- अहो! (i) यह संसार कितना दुःखद कि यहां स्वकृत कर्म का फल भोगने के लिए बार बार संसार में जन्म लेने पडते हैं । अरहट की घटी के समान मलमूत्रादि अशुचि से भरे हुए माता के गर्भ के कोटर में कितना गमना-गमन करना पड़ता है । फिर स्वकृत कर्म के दारूण दुःख भुगतने पडते हैं, इसमें कोई

सहायता नहीं करता है ।

(ii) इसी प्रकार 'संसार के संबध भी विचित्र बनते है । माता पत्नी बनती है, पत्नी माता! धिक्कार है ऐसे भव-भ्रमण को' इस प्रकार की चिन्तन-धारा संसार-खेद को तथा सत्-प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है ।

८. संस्थानविचय :- इसमें १४ राजलोक की व्यवस्था का चिन्तन किया जाता है । अधोलोक उल्टी रखी हुई बाल्टी या बेंत की टोकरी जैसा है । मध्य लोक ढपली जैसा है । उर्ध्व लोक खडे ढोल या शराब-संपुट के सदृश्य है । अधोलोक में परमाधामी आदि के तीव्र त्रास से पूर्ण सात नरक-भूमियां हैं । मध्यलोक में 'मत्स्य गलागल' (जिसकी लाठी उसकी भेंस) न्याय के प्रदर्शनभूत असंख्य द्वीप-समुद्र हैं । उर्ध्वलोक में शुभ पद्गलों की विविध घटनाएं हैं । इनका तथा सकल विश्व में रहे हुए शाश्वत-अशाश्वत अनेकविध पदार्थो पुद्गल के विचित्र परिणाम जीवो की कर्मवश विविध विटबनाएँ इत्यादि इत्यादि षड्द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की महासत्ता का विचार आता है । इस ध्यान के फलस्वरूप चित्त का विषयान्तर में जाना रुक जाता है और चंचल एवं विह्वल होना बन्द हो जाता है ।

९. आज्ञाविचय :- इसमें यह चिन्तन करना चाहिए 'अहो! इस जगत में हेतु, उदाहरण, तर्क आदि का अस्तित्व होने पर भी हमारे जैसे प्राणीयों में बुद्धि का वैसा अतिशय नही ।' अतः आत्मा-संबंधी

कर्मबन्ध, परलोक, मोक्ष, धर्म आदि अतिन्द्रीय होने के कारण उन्हे स्वतः देखना, जानना, समझना अतीव कठिन है, तदपि इन्हे आप्तपुरूष के वचन द्वारा जान सकते है । परम आप्तपुरूष 'वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान' के वचनो ने इन पर कितना सुन्दर प्रकाश डाला है । सर्वज्ञ भगवान को मिथ्या भाषण करने का कोई कारण नहीं है । अतः उनके समस्त वचन सर्वे सर्वा सत्य हैं । उनके कथन यथास्थित ही है ।'

'अहो! कैसा अनन्य उनका उपकार! कैसी कैसी अनन्त कल्याण-साधक, विद्वज्जन-मान्य और सुरासुर-पूजित उनकी आज्ञा है' इस प्रकार के चिन्तानुचिन्तन से सकल सत् प्रवृत्ति की प्राणभूत श्रद्धा का प्रवाह अखंड प्रवाहित होता है ।

१०. हेतुविचय :- जहाँ आगम के हेतु अन्य पदार्थ पर विवाद खड़ा हो, वहां कौन से तर्क का अनुसरण करने द्वारा स्याद्वादनिरुपक *आगम का आश्रय लेना है, और वह भी कष-छेद-ताप की कौन सी* परीक्षा से लाभप्रद होगा, ऐसी विचारणा करनी ।

किसी भी शास्त्र की सत्यता ढूंढने के लिए स्वर्ण की परीक्षा के सदृश्य इसकी परीक्षा करनी चाहिए ।

(i) 'कष = कसौटी । परीक्षा, इसमें यह देखना कि क्या इसमें योग्य विधि - निषेध है? जैसे कि जिनागम में कथन है कि 'तप, स्वाध्याय, ध्यान करना हिंसादि पाप न करना ।'

(ii) छेद परीक्षा :- इसमें यह देखना कि क्या इसमें ऐसी चर्या, ऐसे आचार का प्रतिपादन है जो कि विधि-निषेध को लेशमात्र भी बाधक नहीं; किन्तु साधक है? जैसे कि 'जिनागम में कथन है कि समिति, गुप्ति आदि चर्या आचार का पालन कर्त्तव्य है' इसमें हिंसा बिलकुल नहीं हैं । यहां 'तप, ध्यान आदि' विधि के पालन में ही अनुकूलता है ।

(iii) ताप परीक्षाः- यह देखना कि क्या इसमें विधि-निषेध और जिनागम के आचार के अनुकूल तत्त्व व्यवस्था है? तो जैसे कि अनेकान्तवाद को शैली से आत्मादि द्रव्यो की नित्यानित्यता, उत्पादव्यय - ध्रौव्य आदि पर्यायो का भेदाभेद भाव आदि तत्त्व-व्यवस्था वर्णित की गई है, जो विधि-निषेध तथा आचार को संगत होने योग्य है,- ऐसे चिंतन से विशिष्ट श्रद्धा स्वरूप सम्यग्-दर्शन की अति दृढ वृद्धि होती है ।'

ध्यान के विषय में कुछ आदर्श :-

जैन धर्म में ध्यान का इतना अधिक महत्त्व है कि प्रत्येक शुभयोग में ध्यान अनुस्यूत (बुना हुआ) होना चाहिए । इसलिए प्रत्येक साधना क्रिया-प्रवृत्ति प्रणिधानपूर्वक करने का विधान है ।

'प्रणिधान' का अर्थ है कि 'विशुद्ध भावना के बल के साथ प्रत्येक क्रिया में एवं उच्चरित सूत्र के अर्थ में समर्पित मन ।' ऐसा समर्पित मन ध्यान ही है । अतः साधु अथवा श्रावक को अपने अपने उचित

समस्त आचार-अनुष्ठान का तो पहले ही अमल करने का हैं । उनमें ध्यान समाविष्ट ही है । अकेले ध्यान का अवकाश उनके आचरण के पश्चात् हैं ।

इस ध्यान के प्राथमिक अभ्यास के लिए सर्वप्रथम एकाग्रता सीखने के निमित्त अनेक प्रकार के अभ्यास करने चाहिए । जैसे कि -

(१) ध्यान में प्रभु के एक एक प्रातिहार्य का क्रमशः बढ़ते हुए देखते रहना । जैसे कि, पहले सुवर्णवर्णी काया के प्रभु को रत्न सिंहासन पर बिराजमान देखें बाद में वहां चंवर प्रगट हुएँ । बाद में मुख के पीछे भामंडल प्रगट हुआ देखें । बाद में मस्तक पर तीन छत्र प्रकट हुएँ देखें । ऐसे चार प्रातिहार्ययुक्त प्रभु को देखते हुए बाद में सिर पर विशाल अशोकवृक्ष देखना । वहां उपर देवदुंदुभि बजती है ! नीचे प्रभु की वाणी में दिव्यध्वनि (बंसरी) सूर पूरती है । चारों ओर उपर से

पुष्पवृष्टि बरसती है, यह क्रमशः देखते चलना ।

(२) बाद में अष्ट प्रातिहार्ययुत अरिहंत प्रभु को मन के सन्मुख स्थापित कर, हृदय कमल की कर्णिका पर बिराजमान करके 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' इस 'मृत्युंजय जप' का जाप करते रहना । इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि 'बीच में लेशमात्र भी दूसरे विचार भी आए बिना कितनी संख्या में अथवा कितने समय तक जाप अखंड चलता रहता है ।' वारंवार इस प्रकार के अभ्यास से अखंड जाप

का प्रमाण बढ़ता है ।

(३) हृदय कमल में श्री नवकार मंत्र के सफेद रत्नसदृश्य सफेद चमकते अक्षरों का वांचन करके अखंड जाप में वृद्धि करना । यह आन्तर-दर्शन का प्रयोग है ।

(४) भाष्य, उपांशु और मानस; इन तीन प्रकार के जाप में आंखे बन्द रखते हुए पहले मुख से उच्चारण (भाष्य जाप) करना, तथा अभ्यास बढ़ जाने पर मानसिक उच्चारण (उपांशु जाप) करके 'ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ' ...इस प्रकार २४ भगवान के नाम बोलते एक बार पूरे होते ही तत्काल दूसरी बार बोल के, ये पूरे होते ही तीसरी बार...इस अवधि में यह लक्ष्य रहे कि दूसरा कोई भी विचार न आए, और बोर्ड पर लिखे हुए अक्षरों के वांचन पर लक्ष्य रहे । इस रीति से आगे बढ़ते हुए प्रमाण देखते चलना कि क्या अखंड रूप से २४, ४८, ७२, ९६ नाम तक अखंड ध्यान जारी रहता है न? तीसरे प्रकार के मानस जाप के लिए आन्तरिक उच्चारण को भी छोड़ दिया जाता है । किन्तु भीतर बिना उच्चारण किए किस रूप में अक्षर लिखे हैं इसे स्पष्ट देखते हुए जाप किया जाता है । अलबत्ता इसमें उतावली काम लगेगी नहीं, किन्तु एकाग्रता का ऐसा बढिया अभ्यास होगा कि ध्यान करने की शक्ति प्राप्त होगी ।

(५) एक प्रकार यह भी है कि अपने अन्तर में अथवा दो नेत्रों के बीच के अन्तर में मानो अपने परिचित स्वर वाले कोई गुरूमहाराज

आदि सूत्र बोल रहे हैं । और हमें केवल उनके हिलते हुए ओष्ठ दिखाई दे रहे हैं तथा उनका उच्चारण भी हम ठीक प्रकार से भीतर में कान लगाकर स्फुट अक्षरों में सुन रहे हैं । यह अन्तःश्रवण (आन्तर श्रवण) का प्रयोग है ।

(६) कल्पना करो दृष्टि के सन्मुख अनन्त समवसरण है । इन पर अनन्त अरिहंतदेव है । इनके मस्तक पर अनन्त सिद्ध भगवान हैं । अरिहंत देव के सन्मुख अनन्त आचार्य, अनंत उपाध्याय, अनंत साधु हाथ जोड़कर बैठे है । ऐसी धारणा करने के पश्चात् हम इन्हें क्रमशः नमस्कार कर रहे हों इस रीति से नमस्कार मंत्र का जाप हो सकता है । उपरोक्त नंबर २. यह पदस्थ जाप का प्रयोग और यह रूपस्थ जाप(पदार्थजाप) का प्रयोग है । तत्पश्चात् जाप में से ध्यान में जाने के लिए 'सकलार्हत्' आदि स्तुतियों तथा स्तवनों की एक-एक गाथा लेकर उसके आधार पर इनके भावों को मानो दृष्टि के सन्मुख चित्र रूप में ठोक तदाकार में प्रस्तुत कर, अरिहंत का ध्यान करना चाहिए ।

(७) चैत्यवंदन और प्रतिक्रमण की क्रिया के समय भी संबद्ध सूत्र की प्रत्येक गाथा के भाव का चित्र ही पहले तो अवकाश के समय कल्पना में प्रस्तुत करना चाहिए । बाद में सूत्र बोलते समय उसे मन में दृष्टि-सन्मुख लाना, एवं तद्विषयक हृदय के भाव गाथा बोलते हुए उल्लसित करने चाहिए । जैसे की 'जे अ अइयासिद्धा...'

गाथा का उच्चारण करते समय मानो कि अपनी बायीं ओर अनंत अतीत तीर्थंकर है । इसी प्रकार दांयी ओर अनंत भावी तीर्थंकर हैं, तथा सामने विहरमान २० तीर्थंकर समवसरण में अथवा अष्ट प्रातिहार्य सहित विराजमान है ऐसा नजर के सामने लाना । इन्हें मन, वचन, काया से नमस्कार करना । यदि गाथा का अर्थ न आता हो, तो मन में खड़े कोलम में ऊपर से नीचे गाथा की चार पंक्तियाँ लिपिबद्ध दिखायी दें, उन्हें पढना ।

जैन शासन में ध्यान का महत्त्व इतना अधिक है कि साधु के लिए गुरु से कहा जाता है कि - 'ज्ञान-ध्यान में उजमाळ रहना' । वहाँ 'ध्यान' शब्द से कोई एकान्त में 'ॐ' या 'अर्हम् इत्यादि का ध्यान लेकर बैठ जाना' यह अभिप्रेत नहीं है, किन्तु 'साधुपन की चर्या व आचार में तन्मय होना' यह अर्थ अभिप्रेत है । वहाँ अल्प समय के लिए भी जो एकाग्र होना है, वह सक्रिय ध्यान रूप हुआ । केवल 'ॐ' या 'अर्हम्' में लम्बे समय तक चित्त एकाग्र रह नहीं सकता । इसलिए ऐसी चेष्टा में स्वयं स्वात्मा के साथ वंचना होती है । क्रिया-चर्या-आचार में तो अल्प अल्प समय के लिए मन स्थिर रह सकता है । जैसे कि -

(८) लोगस्स सूत्र में पहली गाथा में अनंत तीर्थंकर पर, उसमें भी भगवान के चक्षु पर मन केन्द्रित किया जाए अथवा ज्ञानातिशय, वचनातिशय आदि पर मन लगाया जाए तो वह ध्यान रूप बनता

है । बाद २ - ३ - ४ गाथा में दर्शित नाम के अनुसार क्रमशः भगवान के चरण पर दृष्टि केन्द्रित की जाए तो वह भी ध्यान रूप होता है । फिर ५ - ६ गाथा में अनंत भगवान के चक्षु या चरण पर स्थिर दृष्टि व अंतिम गाथा में सिद्धशिला पर दृष्टि लगाने से ध्यान रूपता होती है ।

ऐसे क्रिया के प्रत्येक सूत्र के चित्र में भी दृष्टि स्थिर हो सकती है । अलबत्ता यहाँ धर्मक्रिया ध्यान रूप बनती है, अतः "ज्ञान ध्यान में उजमाळ" का मतलब 'ज्ञान-क्रिया में उजमाळ', इस से क्रिया ध्यानरुप बनती है, फिर भी क्रिया-आचार-पालन के बाद अवकाश के समय में पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत ध्यान करना लाभप्रद है । इस से शुभ में मन की स्थिरता का अच्छा अभ्यास करना मिलता है । जैसे कि-

(i) पिंडस्थ ध्यानः- अरिहंत भगवान की जन्म-राज्य-श्रमणवस्था, इस प्रत्येक में अवान्तर विविध अवस्था दृष्टि समक्ष लाकर मन को उसमें स्थिर किया जाए । पिंड = भगवान के देह पर ध्यान । जैसे कि, भगवान के मेरु शिखर पर जन्माभिषेक का ध्यान, राज्यावस्था का ध्यान, भगवान की श्रमण अवस्था (त्याग-तप-परीषह-उपसर्ग सहनादि) का ध्यान । यह सब पिंडस्थ ध्यान है ।

(ii) पदस्थ ध्यानः- तीर्थंकर पद की अवस्था पर मन स्थिर करना । इस में भगवान का विहार, उस में ९ सुवर्ण कमल पर पदन्यास,

रास्ते के वृक्षो का नमन, आकाश में सिंहासन, छत्रो का चलना, एवं पंछियों की प्रदक्षिणा । समवसरण पर प्रभु को अष्ट प्रातिहार्य, प्रभु की रूप-वचनातिशययुक्त देशना, समवसरण में परस्पर विरोध युक्त प्राणियो का प्रेम से साथ साथ बैठना, - जैसे कि शेर और हिरन, बिल्ली और चुहा, मयूर व साँप । प्रभु के उपदेश से कइ सम्यक्त्व, कइ देशविरति तो कइ चारित्र ले रहे हैं । यह सब दिखाइ पडे ।

(iii) रुपातीत ध्यान :- इसमें सिद्धशिला पर प्रभु की मोक्ष की अरुपी अवस्था का ध्यान करना है, जैसे कि-अनंतज्ञान-सुखमय, निरंजन, निराकार आदि अवस्थाएँ सोचनी है ।

दूसरे प्रकार का पदस्थ ध्यान इस रीति से होता है कि नवकार के अक्षरों पर मन लगाया जाए । जैसे कि हृदय को अष्ट पंखुडियों युक्त कमल जैसा धार कर मध्य कर्णिका में लिखित 'नमो अरिहंताणं' अक्षर पर मन को केन्द्रित किया जाए; व आठ पंखुडियों में लिखित नवकार के बाकी के आठ पद पर मन लगाया जाए । इस में चार दिशा में चार पद और चार विदिशाओ में अंतिम चार पद । इस प्रकार नवकार के पद (अक्षरों) पर ध्यान । यह भी पदस्थ ध्यान है ।

ध्यान के अन्य भी कइ प्रकार हैः-

(१०) समवसरण ध्यानः- दृष्टि समक्ष चोकट समवसरण में तीन किल्ले की बरह रेखा व प्रत्येक रेखा में मध्य में द्वार तोरण और

द्वारों की दोनों बाजुओं पर चार पंखुडी वाले पुष्प में मन लगाकर प्रत्येक रेखा पर ९-९ नवकार । इस प्रकार तीन किल्ले की १२ रेखा पर १०८ नवकार का ध्यान हो सकता है ।

(११) अक्षर-अंक ध्यानः- मन को स्थिर करने का एक उपाय यह है कि-हम नवकार पदों के अक्षर बोले किन्तु अंक (नंबर) देते हुए बोले । जैसेकि 'न' -१, 'मो' २, 'अ' -३, 'रि' -४, 'हं' -५, 'ता' -६, -'णं' -७ । बाद तुरंत दूसरे पद के अक्षरों पर अंक दें- 'न' -८, 'मो' -९, 'सि' -१० इत्यादि । कुल ६८ अक्षर । खयाल रखना कि प्रथम पद में ७ तक अंक आएगा, दुसरे पद में १२ तक तीसरे पद में १९ तक.... ।

प्रश्न :- क्रिया में मन कैसे स्थिर रहे ?

उत्तर :- क्रिया में मन को स्थिर रखने के लिए यह सोचना कि- (i) मुझे वफादारी से यह क्रिया करनी है, वास्ते दूसरा कोइ विचार न किया जाए ।

(ii) सूत्र के अक्षर बोलते समय सामने लिखे हुए सूत्र को देखना ।

(iii) भगवान या गुरु के आगे हम क्रिया करते हैं तो वहाँ खयाल रहे कि-सूत्रपदों को उन्हें हम सुना रहे हैं । वहां पद-पद स्पष्ट सुनाया जाय ।

(iv) बडों के साथ बात करने में दूसरे के साथ बात न की जाए ।

दूसरा विचार यह :- दूसरे के साथ बात हुइ, इस में प्रस्तुत देव या गुरु का अनादर हुआ । यह आशातना है । साधना करनी है तो आशातना का त्याग कर करनी चाहिए । इस प्रकार पांचवें तप 'ध्यान' का वर्णन पूरा हुआ ।

(३४)

महान योग : प्रतिक्रमण

साधु व श्रावक के लिए प्रभात एवं सायं उभयकाल 'प्रतिक्रमण' एक अवश्य करणीय आचार है । यह खास तोर पर रात्रि एवं दिन में विचार-वाणी-वर्ताव से किये गए दुष्कृत्यों से लगे पापो को निवारने एवं संस्कारो को मिटाने कि अद्‌भूत योग क्रिया है ।

प्रतिक्रमण का अर्थ है :- 'प्रति' = पाप से, 'क्रमण' = पीछे हटना, यानी पापो का भारी संताप रख गुरु के आगे मिथ्या दुष्कृत मांगना ।

जैन धर्म में प्रतिक्रमण योग विश्व में एक अनूखा महायोग हैं । क्यों कि इससे दिनभर में एवं रात्रिभर में जो असत् मनो - वाक् - काय - प्रवृत्तियों से आत्मा पर अनंत कर्माणुओ चिपके हुए हैं उनका विसर्जन होता है । अन्यथा प्रतिक्रमण योग यदि न हो तो पहले तो वे स्थूल-सूक्ष्म असंख्य पाप-प्रवृत्तिओ का प्रत्येक का गुरु के समक्ष यथार्थ रूप में आलोचन (प्रकाशन) व प्रायश्चित्तकरण ही कैसे संभवित

हैं ?

कहा गया हैं कि 'एक ही दिन में इतने असत् विचार-वाणी-वर्ताव चलते हैं कि जिनसे लगे हुए पापो का ढेर बडे मेरु-पर्वत जितने सोने का दान करने से भी नहीं छूटता है' । जब कि षड् आवश्यकमय प्रतिक्रमण के सर्वज्ञकथित अनुष्ठान में यह ताकात है कि दिन व रात्रि भर के कइ पापो का ढेर आत्मा पर से हटा दे ।'

अलबत्ता बड़े बड़े पापो का प्रतिक्रमण उपरान्त गुरु के आगे अलग आलोचन करके उनके तप आदि प्रायश्चित्त का ग्रहण-वहन करना जरुरी है, फिर भी छोटे छोटे पापो की सीमा नहीं है । अनुभव है कि मन एक मिनिट में तो कहीं के कहीं की असत् विविध-विचारधारा चलाता है । इन में प्रत्येक विचारों का नाप एवं तज्जनित पापकर्मबंध का नाप हमारी कल्पना की बहार का विषय है । लेकिन शास्त्रोक्त विविध विधि-विधानयुक्त 'प्रतिक्रमण' अनुष्ठान उन अगणित पापो के ढेर का नाश करने में सक्षम है, समर्थ है ।

'प्रतिक्रमण' यह षड्आवश्यकमय अनुष्ठान है । वे षड्आवश्यक ये है, :- (१) सामायिक, (२) चतुर्विंशति स्तव, (३) वंदन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग, व (६) प्रत्याख्यान इनका बहुत संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है, -

(१) सामायिक है दो घडी (४८ मिनिट) के लिए हिंसादि सावद्य (सपाप) व्यापारों का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग (यानी विरति) का अनुष्ठान ।

इस में यह प्रतिज्ञा कर के दो घडी तक शास्त्रस्वाध्यायादि किया जाता है । प्रस्तुत में प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है । प्रतिक्रमण में पहले इस प्रतिज्ञा यानी विरति की आवश्यकता इसलिए है कि आत्मा पर से प्रतिक्रमण द्वारा जो पश्चात्ताप आदि कर के पाप-संस्कार व पापकर्मो का नाश करना है, यह पापनाश अविरति द्वारा पापो के साथ लगी हुइ अशुद्ध आत्मा से नहीं हो सकता । वास्ते सामायिक की पहली आवश्यकता है ।

(२) 'चतुर्विंशति-स्तव' है वर्तमान अवसर्पिणी काल में हुए पहले तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव स्वामी से लेकर २४ वें वर्धमान स्वामी (महावीर स्वामी) तक के चोवीश तीर्थंकर भगवन्तो की स्तुति वन्दना व प्रार्थना का सूत्र । प्रतिक्रमण करते पहले यह इसलिए आवश्यक है कि कोइ भी शुभ कार्य मंगलरुप में देवाधिदेव व गुरु को वंदन करने-पूर्वक ही किया जाता है, ताकि विघ्नों का नाश हो ।

(३) 'वंदन' है गुरु की विधिपूर्वक की जाती वंदना । इस में दो अंश होते है, (i) गुरु के चरणस्पर्श पूर्वक गुरु को शाता पृच्छा । एवं (ii) गुरु के प्रति जान - अनजानपन में हो गइ विविध आशातना के मिथ्यादुष्कृत का निवेदन ।

(४) 'प्रतिक्रमण' :- यह मुख्य क्रिया है । इस में दिन-गत के अपने से किये गए (i) तीर्थंकर के द्वारा निषिद्ध पाप कर्मो के आचरण, (ii) तीर्थंकर विदित शुभ कर्तव्य की उपेक्षा, (iii) जिनवचनोक्त तत्त्व

व विधि निषेध की अश्रद्धा, एवं (iv) जिनवचन से विपरीत प्ररूपणा, - इन चार प्रकार के पापो से पीछे हटना हैं । इस में पापो का तीव्र संताप के साथ मिथ्या दुष्कृत करना होता है ।

(५) 'कायोत्सर्ग' प्रतिक्रमण से शुद्ध किए पापो के अलावा शेष रहे सूक्ष्म पापो के शुद्धिकरण की क्रिया है । कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर काया को बिलकुल स्थिर रखना, वाणी से संपूर्ण मौंन रखना, एवं मन को नियत ध्यान में रखना होता है । इस में पापो के क्षय के साथ ही मन के संताप मिटते है व ध्यान से महान शांति मिलती है । कायोत्सर्ग में प्रतिज्ञाबद्ध काया का उत्सर्ग यानी ममत्त्वत्याग करना है । अलबत्ता इस में तो फिर श्वास-उच्छ्वास आदि कुछ भी नहीं करना चाहिए, किन्तु कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा के सूत्र में ऐसी अनिवार्य कायक्रियाओं का आगार = अपवाद रखा गया है । बाकी कायोत्सर्ग यह श्रेष्ठ कोटि का आभ्यन्तर तप है, जो कि जीवन के अंतिम समय के लिए उत्कृष्ट आराधना है ।

(६) 'प्रत्याख्यान' (पच्चक्खाण) यह दोष-सेवन से आत्मा पर पडे घाव पर मलहम पट्टी जैसी क्रिया है । इस में रात्रि के लिए अशन-पान-खादिम-स्वादिम इन चारों आहार में से सभी का या एक दो आहार का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग किया जाता है । दिन के संबन्ध में सुबह से अमुक समय तक के लिए चारों आहारों का त्याग, एवं द्वयशन-एकासन-आयंबिल-उपवास आदि का पच्चक्खाण किया जाता

है ।

प्रत्याख्यान, प्रतिज्ञा, विरति; यह विश्व को जैन धर्म की विशिष्ट देन है । इस में तत्त्व की सूक्ष्मता है, यह इस प्रकार है - पापकृत्य-दुष्कृत्य करने-कराने व अनुमोदना करने से तो पाप लगता ही है किन्तु मन में पाप की अपेक्षा रखने से भी पाप लगता है । अगर हम प्रतिज्ञा नहीं लेते हैं तो मन में ऐसी अपेक्षा बनी रहती है कि "मैं यों तो पाप नहीं करुंगा, किन्तु भविष्य में अगर ऐसा कोइ अवसर आ जाए तो मुझे पाप करना पडे । इसलिए मैं प्रतिज्ञा नहीं लुँ" ऐसी पाप की अपेक्षा से भी पाप लगता है ।

माहणसिंह का एवं रानी-मंत्री का प्रतिक्रमण :-

(१) देहली में बादशाह फिरोझखां का जैन मन्त्री माहणसिंह प्रतिक्रमण योग में इतने चुस्त थे कि एकबार उनको बादशाह के साथ कहीं सवारी में जाना पड़ा । अरण्य के रास्ते में संध्या समय होते ही वे अरण्य में एक पेड के नीचे प्रतिक्रमण करने बैठ गए । बादशाह व लश्कर तो आगे बढ़ गया आगे छावनी पडी वहां बादशाह मंत्री को न देखने से, सैनिको द्वारा तलाश कराने पर पेड के नीचे से प्रतिक्रमण करते हुए मिले । बादशाह के पूछने पर उन्होने बताया कि 'हमारे जैनधर्म में उभयकाल के पापो के परिमार्जन हेतु उभय संध्या प्रतिक्रमण करना आवश्यक है !'

'क्या आपको डर नहीं लगा?' अरण्य में भी भगवान के चरणों

में रहते हुए डर किस बात का? ऐसा उत्तर सुनने पर प्रसन्न होकर बादशाह ने सेना को हुकम दे दिया कि 'कहीं बाहर जाना हुआ तो १००० सैनिक चारों ओर मन्त्रीश्वर के प्रतिक्रमण वक्त रक्षा करते रहें ।'

एकबार माहणसिंह कैसे विधिसर प्रतिक्रमण करेगा इस हेतु बहाना निकालकर उसे कारागृह के अंदर हथकडियो में जकड लिया । फिर भी वहाँ जैलर को सुवर्ण देने का वचन देकर प्रतिक्रमण के समय हथकडियाँ निकलवाकर प्रतिक्रमण खडे खडे विधिपूर्वक ही किया ।

(२) वैसे ही रानी का राज्य था । 'एक स्त्री क्या राज्य करती होगी?' ऐसा सोचकर शत्रुराजा युद्ध करने आया । जैन मन्त्री ने रानी को आश्वासन दिया 'घबराओ मत, हम लड लेंगे ।' साथ में मित्र राजाओं को भी बुलवाया । राजधानी के बाहरि भाग में रात के वक्त छावणी डाली गइ । बडी सुबह जैन मन्त्री प्रतिक्रमण करने बैठे । वह देखकर मित्र राजा व अफसर लोग रानी से कहने लगे "ये बडे मन्त्रीसाब तो एगिंदिया बेगिंन्दिया कर रहे है । सूक्ष्मजीव बचाने हेतु शरीर पर कपडे का छोर फिराता है, वह क्या महाहिंसामय युद्ध करेगा?"

रानी को पूर्णतया विश्वास था कि 'बडे मन्त्री धोखा नहीं देंगे ।' युद्धभूमि में बडे मन्त्री ने नेतृत्व लेकर सेना को पानी चढाया, व घमासान युद्ध छिड गया । शत्रु सेना में भाग - दोड मची व यहाँ

रानी के राज्य का विजय ध्वज लहराया गया । संध्या समय में बडे मन्त्री के शरीर पर के घावों की शुश्रूषा चल रही थी, ठीक उसीं समय रानीजी ने कुशल पृच्छा के लिए पास में बैठ कर पूछाः "मन्त्रीश्वर मार्तंड ! आपके जीवन में यह विरोधाभास कैसा? सुबह में तो सूक्ष्म जीवों की रक्षा? व दिन में बडे प्राणी हाथी-घोडे यावत् मनुष्य तक की भी हिंसा?" मन्त्री ने कहा -

"देखिए महारानीसाब ! यह मेरा शरीर दो की सेवा में हैं, दिन में आप का नमक खाता हुँ वास्ते आपकी सेवा में युद्ध में प्रतिबद्ध हुआ । रात में मेरी आत्मा को अच्छा परलोक पाना है वास्ते आत्मा की सेवा रुप प्रतिक्रमण आदि क्रिया में प्रतिबद्ध हो गया ।"

रानी, अन्य राजाएँ एवं अफसरो ने मन्त्रीश्वर को हाथ जोड दिए ।

(३७)

१० गुणस्थानक यानी आत्मा का उत्क्रान्ति क्रम

जैन धर्म में आत्मा की उन्नति-उत्क्रान्ति के लिए १४ गुण स्थानकों की सीढी बतायी गइ है । यह युक्तियुक्त है क्योंकि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग इन पांच दोषो के कारण कर्मोपार्जन करके इन कर्मवश संसार में भ्रमण करता रहा है । अतः सहज है कि इनमें से अगर दोषो को कम करता चले, तो क्रमशः गुणस्थानकों

की सीढी पर आरोहण होता है । इसमें जीव रूप में १ ला मिथ्यात्व गुणस्थानक है । संसार के सभी मिथ्यादृष्टि जीव यहां रहे है । वहां से मिथ्यात्व व उग्र कषायो को दबाकर सम्यक्त्व पर चडता है। अब अगर सम्यक्त्व से गिरता हुआ क्षणभर मिथ्यात्व उदय में न आया किन्तु मात्र उग्र कषाय (अनंतानुबंधी) उदय में आएँ तब वहाँ २, (दूसरा) सास्वादन क्रमका गुणस्थानक होता है ।

वमन किये सम्यक्त्व का यहां कुछ आस्वाद रहने से यह दूसरा गुणस्थानक सास्वादन - गुणस्थानक कहा जाता है । क्षण के बाद मिथ्यात्त्व मोहनीयकर्म उदय में आ जाने से, वह जीव वहां से १ ले गुणस्थानक पर गिरता है ।

अगर, पहले गुणस्थानक में ही विकास पा कर अथवा चौथे गुणस्थानक से गिरने पर न मिथ्यात्त्व, न सम्यक्त्व ऐसी दशा प्राप्त हो, तब ३ रा 'मिश्र - गुणस्थानक' प्राप्त होता है । वहाँ भी यदि सम्यक्त्व को उदय में लाये, तब जीव ४ था अविरत सम्यग्दृष्टि - गुणस्थानक पर आरुढ होता है । यहाँ सम्यक्त्व आने पर भी कर्मबन्ध का 'अविरति' नाम का दूसरा कारण खडा रहने से वह अविरत 'सम्यग्दृष्टि' कहा जाता है । अब आगे बढते हुए, श्रावक-योग्य स्थूल-अहिंसादि अणुव्रत लिएँ तब ५ वां देश विरति-गुणस्थानक प्राप्त होता है । यहाँ सूक्ष्म हिंसापरिग्रहादि पाप मौजूद है । पंचमहाव्रत ग्रहण करके उन सब पापो का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग (विरति) कर दें,

तब वहां सर्वविरति का गुणस्थानक आता है । यहाँ कर्मोपार्जक ३ रा दोष 'प्रमाद' खडा है, इसलिए वह ६ वां प्रमत्त - गुणस्थानक कहलाता है । जब वह 'प्रमाद' त्याग दे, तब वहाँ ७ वां अप्रमत्त - गुणस्थानक प्राप्त होता है । वहाँ .. सामर्थ्ययोग का अपूर्व वीर्य प्रगट कर कषायो का अधिक अधिक शमन या क्षय करता चले तब 'अपूर्वकरण' 'अनिवृत्तिकरण' और 'सूक्ष्मसंपराय' नामक ८-९-१० वें गुणस्थानक पर चढता जाता है ।

जब १० वे गुणस्थानक पर चढता है, वह यदि कषाय का 'उपशम' करता हुआ चढता है तब वहाँ १० वें में सूक्ष्म संपराय (यानी कषाय) अंत में उपशांत हो जाने से अब वीतराग हो ११ वाँ उपशान्तमोह - गुणस्थानक प्राप्त करना है । किन्तु वहाँ क्षण के बाद उपशांत किया गया राग (कषाय) मोहनीय कर्म उदय में आ जाने से जीव नीचे गिरता हैं, अर्थात् पुनः १०-९-८-७... आदि गुणस्थानकों में पतन होता चलता है । यदि ८ वें गुण-स्थानक से आगे कषाय-मोह का उत्तरोत्तर संपूर्ण क्षय करता आगे बढता है तब १० वें गुणस्थानक के अन्त में सर्वथा कषाय-मोह को क्षीण कर वीतराग बनकर के वह 'क्षीणमोह' नामक १२ वें गुणस्थानक पर चढता है । वहाँ अंत में शेष तीन घाती कर्मो (ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अंतराय) का भी क्षय कर देता है । अब जीव सयोगी केवली नाम क १३ वें गुणस्थानक पर आरुढ होता है । अलबता यहाँ तक में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद व कषाय ये चार कर्म-बन्धक कारण नष्ट हो गये

है, इसलिए १३ वें गुणस्थानक में जीव वीतराग सर्वज्ञ बना है, किन्तु अब भी विहार, आहार-ग्रहण, उपदेश-उच्चारण आदि मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप 'योग' खडा है । (योग यह कर्मबन्ध का ५ वां कारण है ।) अब १३ वें के अंत में योगों का सर्वथा निरोध कर दे, तब १४ वां अयोगी केवली-गुणस्थानक प्राप्त होता है । यहाँ तुरन्त शेष ४ अघाती कर्मो का पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण-काल जितने काल में, संपूर्ण क्षय कर देता है, तब मोक्ष-अवस्था प्राप्त होती है ।

मोक्ष में अब वेदनीय कर्म न रहने से आत्मा का अनंत अव्याबाध, सहज सुख प्रगट होता है । साथ के अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्यादि लब्धि भी है । मोक्ष में मोहनीय कर्म भी न होने से वीतरागता है, आयुष्य-कर्म न होने से अजर-अमर अवस्था है । नाम कर्म न होने से अरूपी अवस्था है, गोत्र कर्म न होने से अगुरुलघु अवस्था है । वहां सिद्ध के ८ गुण प्रगट होते है ।

अपनी आत्मा की ऐसी अनंत ज्ञान-सुखमय निरंजन निराकार-निर्विकार अवस्था प्रगट करने के लिए जैन धर्म की आराधना करने योग्य है ।

(३६)
प्रमाण और जैन शास्त्र

पदार्थ का ज्ञान दो प्रकार से होता है :- (१) किसी भी अपेक्षा लगाए बिना प्रदार्थ को समग्र रूप से देखना यह 'प्रमाण ज्ञान' है । और (२) वस्तु को अमुक अपेक्षा से इस के अंश को आगे कर देखना, यह 'नयज्ञान' है ।

हमने आंखें खोलकर घडा देखा, यह घडे का समग्र रूप से बोध है, यह घडे का प्रमाण ज्ञान है । किन्तु नगर के बाहर जाकर याद आया कि 'घडा नगर में रह गया' यह वस्तु को समग्रता नहीं किन्तु अंश को आगे कर बोध हुआ, क्यों कि यों तो 'घडा घर में भी रहा है,' 'घडौची पर भी रहा है', 'अपने अवयव में भी विद्यमान है,' ऐसे भी अनेक अंश घडे में हैं, इन में से अमुक अपेक्षा या दृष्टि से देखते हुए बोध हुआ कि 'घडा नगर में रह गया' यह अंश रुप से ज्ञान है । इसको 'नय ज्ञान' कहा जाता है । सारांश,

समग्र रूपेण बोध को 'सकलादेश' अर्थात् प्रमाण कहते हैं । अंश रुपेण बोध को 'विकलादेश' अर्थात् 'नय' कहते हैं । नय ज्ञान भी सच्चा है, प्रमाण भूत है, किन्तु किस रुप से वस्तु दर्शन करते हें? समग्र रूप से? या अंश रूप से? इसके हिसाब से ज्ञान को प्रमाण और नय इन दो में विभक्त किया । प्रमाण और नय ये ज्ञान के ही दो प्रकार है ।

प्रमाण-ज्ञान वस्तु को समग्र रूप से देखता है; अतः इसमें इस बात का स्थान नहीं की 'वह अमुक अपेक्षा से ऐसा है ।' जिह्वा से चीनी मीठी लगी, यह मीठी चीनी का ज्ञान हुआ, यह मतिज्ञान है । अथवा शास्त्र से निगोद में अनंत जीव होने का ज्ञान हुआ यह श्रुतज्ञान है । इन में बीच में कोई अपेक्षा नहीं आई । परन्तु हमें विदित हुआ कि 'घडा रामलाल का है' तब इसमें अपेक्षा का अवसर प्रस्तुत हुआ कि यह बात (i) क्या स्वामित्व की दृष्टि से है? या (ii) क्या निर्माण की दृष्टि से? या (iii) क्या संग्रह-कर्ता की दृष्टि से है? यह अंश को लेकर अपेक्षा से होनेवाला ज्ञान 'नय' ज्ञान है । 'घडा रामलाल नामक मालिक का?' या 'रामलाल नामक निर्माता का?' या 'रामलाल नामक बेचनवाले का?' वैसा ज्ञान इस अपेक्षा से होनेवाला अंशतः ज्ञान है । यह 'नय' है । 'सकलादेशः प्रमाणम्, विकलादेशो नयः' अर्थात् सामस्त्येन ज्ञान यह 'प्रमाण' ज्ञान है । अंशतः ज्ञान यह 'नय' ज्ञान है ।

पांच प्रमाणज्ञान :-

प्रमाण ज्ञान के दो भेद हैं:-(१) प्रत्यक्ष, व (२) परोक्ष । 'प्रत्यक्ष ज्ञान' अर्थात् जो ज्ञान 'अक्ष' = आत्मा के प्रति साक्षात् अर्थात् बाह्य साधन के बिना आत्मा मे साक्षात् उत्पन्न होनेवाला होता है यह प्रत्यक्षज्ञान है । 'परोक्ष' 'अक्ष' = आत्मा को, 'पर' अर्थात् इन्द्रिय आदि किसी साधना से होनेवाला ज्ञान ।

'परोक्ष ज्ञान' के दो प्रकार हैं-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । 'प्रत्यक्षज्ञान' के तीन प्रकार है-अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान । इस तरह प्रमाणज्ञान के पांच प्रकार हुए, - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान ।

(१) मतिज्ञान :- यह इन्द्रियों और मन से होता है । चक्षुइन्द्रियों से रूपी द्रव्य और रूप (वर्ण) संख्या, आकृति, आदि का ज्ञान होता है ।'जैसे कि हमने देखा यह घडा है, लाल है, एक है, गोल है ।' इत्यादि चाक्षुष मतिज्ञान है । घ्राणेन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है, जैसेकि 'यह सुगंध या दुर्गंध कहाँ से आई?' रसनेन्द्रिय से रस का पता चलता है, - 'इस में मिठास कैसी है?' स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का बोध होता है, जैसे कि 'यह कोमल है?' श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, - 'वाह! कैसा मधुर शब्द है ।' मन से चिन्तन, स्मरण, अनुमान तर्क आदि ज्ञान किया जाता है, जैसे कि 'कल जाऊंगा' 'वह मार्ग में मिला था,' 'धुंआँ दिखाई दे रहा है, अतः अग्नि जल रही होगी' इत्यादि-चिंतन-स्मरण-अनुमान (कल्पना) होती है । यह सब मतिज्ञान है ।

मतिज्ञान में चार कक्षाएँ हैं :- अवग्रह, ईहा, अपाय व धारणा । पहले यह भान होता है कि 'कुछ है' यह 'अवग्रह' है । बाद मे होता है कि 'यह क्या होगा? यह नहीं, वह संभव हैं' ईहा कहते हैं । इसके पश्चात् होता है, यह वही है, ऐसा निर्णय यह 'अपाय'

है । तदनन्तर इसे न भूलने की सतर्कता होती है यह 'धारणा' है । इस प्रकार मतिज्ञान क्रमशः चार कक्षा से हुआ, अवग्रह ईहा, अपाय, धारणा ।

जैसे कि - i. किसी का स्वर कान पर आ रहा है, तो होता है 'कुछ बज रहा है' -यह श्रोत्रेन्द्रिय से 'अवग्रह मतिज्ञान' हुआ । ii. 'यह अवाज तबले की है? या ढोलक की है? विशेषता होने से ढोलक की प्रतीत होती है' यह 'ईहा मतिज्ञान' है । iii. 'ठीक ढोलक की ही आवाज है ।' ऐसा निर्णय यह 'अपाय मतिज्ञान' हुआ । iv. तत्पश्चात् इन ध्वनि को मन में निश्चित रूप से धारण कर लेना वह 'धारणा-मतिज्ञान' है ।

अवग्रह के भी दो प्रकार है - (i) अर्थावग्रह (ii) व्यंजनावग्रह । 'कुछ है' ऐसे व्यक्त आभास की अभिव्यक्ति के पहले, पदार्थ इन्द्रिय के सम्पर्क में जुडता जाए और अव्यक्त अत्यन्त धुंधली चेतना को जाग्रत करे वह 'व्यंजनावग्रह' है । तत्पश्चात् 'यह कुछ है' एसा भास होता है, उसे 'अर्थावग्रह' कहते है । सोए हुए व्यक्ति के कानों में अनेक बार उसके नाम के शब्द टकराते हैं, बाद में समय अव्यक्त चेतना जाग्रत हो रही है अतः इसे भी 'व्यंजनावग्रह' ज्ञान कहा जाता है । शब्द दीवार पर भी टकराता है किंतु दीवार को ऐसी कोई अनुभूति की स्थिति नहीं होती है । अतः सिद्ध है कि अजीव को टकराना भिन्न है, सजीव इन्द्रियों को टकराना भिन्न है । वह केवल

संपर्क ही नहीं, किन्तु अव्यक्त चैतन्य-स्फुरण का कारण होता है। अव्यक्त ज्ञान जगाता है ।

यह 'व्यंजनावग्रह' चक्षु व मन को छोडकर शेष चार इन्द्रियों से ही होता है । कारण यह है कि चक्षु और मन को ज्ञान करने में अपने विषय के साथ संम्पर्क होने की आवश्यकता नहीं रहती है। चक्षु केवल योग्य देश में आई हुई वस्तु को संपर्क (स्पर्श) किए बिना ग्रहण कर लेती है । इसी प्रकार मन भी, विषय का संपर्क (स्पर्श) किए बिना, विषय का चिंतन कर लेता हैं । इसलिए चक्षु और मन को 'अप्राप्य प्रकाशकारी' कहते । शेष चार इन्द्रियों को 'प्राप्य प्रकाशकारी' कहते हैं ।

मानस मतिज्ञान के रुपकः 'चिन्ता' आदि :-

(१) मन से भविष्य का विचार यह 'चिन्ता' है ।

(२) भूतकाल की याद यह 'स्मृति' है ।

(३) वर्तमान का विचार यह 'मति' या 'संज्ञा' है ।

(४) 'यह वही व्यक्ति है' इस प्रकार वर्तमान के साथ भूतकाल का अनुसंधान होना यह 'प्रत्यभिज्ञा' है ।

(५) 'अमुक (वस्तु) हो तो अमुक (वस्तु) होनी ही चाहिए' यह विकल्प ज्ञान 'तर्क' है ।

(६) हेतु को देखकर कल्पना का होना यह 'अनुमान' है; जैसे कि नदी में बाढ देखकर ज्ञान होता है कि 'उपर में वर्षा हुई होगी' ।

(७) 'दिखायी देनेवाली अथवा सुनी जानेवाली वस्तु अमुक स्थिति के अभाव में नहीं घट सकती' अतः उस अमुक की कल्पना होती है यह 'अर्थापत्ति' है, जैसे कि एक व्यक्ति सशक्त है 'वह दिन में भोजन नहीं करता ऐसा जानकर बाद में इससे फलित होता है कि' 'वह अवश्य रात को खाता होगा ।' यह 'अर्थापत्ति मतिज्ञान' है ।

(२) श्रुतज्ञान :-

श्रुतज्ञान; यह उपदेश सुनकर या लिखित पढ़कर होता है । अमुक शब्द सुना, वह तो श्रोत्र से शब्द का मतिज्ञान हुआ । यह ज्ञान तो भाषा से अनभिज्ञ को भी होता है, किन्तु शब्द श्रवण के बाद उससे भाषा के ज्ञाता को जो पदार्थ का बोध होता है, कथित वस्तु समझ में आती है, इसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं । यह ज्ञान शास्त्र से किसी के उपदेश से अथवा सलाह या शिक्षा से होता है । जहां उपदेश या आगम आदि का अनुसरण करते हुए ज्ञान होता है, वहाँ वह श्रुतज्ञान है ।

श्रुतज्ञान के १४ भेद :- (१) 'अक्षरश्रुत' :- अक्षर से बोध । (२) अनक्षर श्रुत :- खों खों की चेष्टा अथवा मस्तक ऊँगली आदि की चेष्टा इत्यादि से होनेवाला बोध । (३) 'संज्ञिश्रुत' :- मनसंज्ञा वाले का बोध । (४) 'असंज्ञिश्रुत' :- ऐकेन्द्रिय आदि जीव को

होनेवाला बोध । (५) 'सम्यक् श्रुत' :- समकितधारी का श्रुतबोध। (६) 'मिथ्याश्रुत' :- मिथ्यात्वी का शास्त्र-बोध । (७) 'सादि श्रुत' :- भरत आदि क्षेत्र में प्रारंभ होनेवाला श्रुत । (८) 'अनादि श्रुत' :- महाविदेह में अनादि से प्रवाहित श्रुत । (९) 'सपर्यवसित श्रुत' :- नाश होनेवाला श्रुतज्ञान । (१०) 'अपर्यवसित श्रुत' :- अविनाशी श्रुतधारा । (११) 'गमिक श्रुत' :- समान 'गम' अर्थात् आलावा (फकरा) वाला श्रुत । (१२) 'अगमिक श्रुत' :- इससे विपरीत । (१३) 'अंगप्रविष्ट श्रुत' :- 'अंग' यानी आचारांग आदि द्वादशांग आगम में अन्तर्गत श्रुत । (१४) 'अनंगप्रविष्ट' :- अंग अंतर्गत नहीं ऐसा अंग = बाह्य श्रुत, अंग से बाहर का श्रुत जैसे कि 'आवश्यक' 'दशवैकालिक' आदि । 'सम्यक श्रुत' में जिनागम तथा जैनशास्त्रो का समावेश है। यह जैन शास्त्र मूल रूपेण श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव की वाणी से प्रगट हुए है, अतः सम्यक् है । अब श्रुत के अन्तर्गत आगमो और शास्त्रो पर विचार करें ।

४५ आगमः द्वादशांगीः १४ पूर्व आदि :-

तीर्थंकर भगवान संसारवास को छोडकर निष्कलंक चारित्र तथा बाह्य-आभ्यंतर तप की साधना करके वीतराग सर्वज्ञ बनते हैं । तत्पश्चात् वे गणधर शिष्यों को 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा' यह 'त्रिपदी' (तीनपद) प्रदान करते हैं । इन्हें सुनकर उनके पूर्व जन्म की विशिष्ट साधना उत्पत्ति, आदि चार बुद्धि का वैशद्य, तीर्थंकर

भगवान के योग, चारित्र, आदि विशिष्ट कारणो के एकत्रित हो जाने से गणधर देवो को श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का अपूर्व क्षयोपशम (अर्थात् अमुक प्रकार का नाश) होता है । फलतः विश्व के तत्त्वों का प्रकाश होने से, वे बारह अंगरूप (द्वादशांगी) आगम की रचना करते हैं । सर्वज्ञ प्रभु उन्हें प्रमाणित करते हैं ।

वें बारह अंग ये हैं :- (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति), (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासक दशांग, (८) अंतकृत् दशांग (९) अनुत्तरौपपातिक दशांग, (१०) प्रश्न-व्याकरण (११) विपाकसूत्र व (१२) दृष्टिवाद ।

१२ वे अंग 'दृष्टिवाद' में १४ 'पूर्व' नामक महाशास्त्रो का समावेश है । वीर प्रभु के निर्वाण के बाद करीब १ हजार वर्ष पश्चात् इस १२ वां 'दृष्टिवाद' नामक आगम का विच्छेद हो गया, अर्थात् वह विस्मृत हो गया । अतः अब ग्यारह अंग शेष रहे । ये ११ अंग + 'औपपातिक' आदि १२ उपांग + बृहत्कल्प आदि ६ छेद सूत्र + 'आवश्यक' , 'दशवैकालिक,' 'उत्तराध्ययन' 'ओघनिर्युक्ति' ये ४ मूलसूत्र + 'नंदि' और 'अनुयोगद्वार' २ + 10 'प्रकीर्णक' (पयन्ना) शास्त्र (गच्छाचार पयन्ना आदि) = 45 आगम आज उपलब्ध हैं । इनमें 'अंग' व 'आवश्यक' गणधर-रचित हैं । शेष पूर्वधर-रचित हैं ।

पंचांगी आगम :-

दस आगम सूत्रो पर श्रुतकेवली चौद पूर्वधर आचार्य भगवान श्री

भद्रबाहुस्वामी ने श्लोकबद्ध संक्षिप्त विवेचना लिखी है, उसे 'निर्युक्ति' शास्त्र कहते हैं । उस पर पूर्वधर महर्षियों ने श्लोकबद्ध अधिक विवेचन किया, वह 'भाष्य' है । तीनों पर आचार्यो ने प्राकृत संस्कृत विवरणो की रचना की जो 'चूर्णि' और 'टीका' कहलाती हैं । इस प्रकार सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चुर्णि, टीका ये पंचांगी आगम कहलाते हैं ।

अन्य जैन शास्त्र

प्रकरण शास्त्रों में तत्त्वार्थ महाशास्त्र, जीवविचार, नवतत्त्व, दण्डक, संग्रहणी क्षेत्र समास, छः कर्मग्रंथ, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, देववंदनादि ३ भाष्य, लोक प्रकाश, प्रवचन सारोद्धार आदि अनेकानेक शास्त्र है । प्रकरण शास्त्रो की रचना बहुश्रुत आचार्यो ने की है ।

उपदेश शास्त्रो में उपदेशमाला, उपदेशपद, पुष्पमाला भवभावना, उपदेशतरंगिणी, अध्यात्मकल्पद्रुम, शांत सुधारस, ३२ अष्टक, उपमितिभवप्रपंचा कथा, आदि शास्त्र हैं ।

आचारग्रन्थों में श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति, श्राद्धविधि, धर्मरत्न प्रकरण, श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति, आचार-प्रदीप, धर्मबिन्दु, पंचाशक, बीसबीसी, षोडशक, धर्मसंग्रह, संधाचार भाष्य आदि का समावेश है ।

योग ग्रन्थों में ध्यानशतक, योगशतक, योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशास्त्र, अध्यात्मसार, ३२ बत्तीसी, योगसार आदि रचनायें

हैं ।

दर्शनशास्त्रो में सन्मति तर्क, अनेकान्तवाद, ललित विस्तरा, धर्मसंग्रहणी, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय; स्याद्वादरत्नाकर, उत्पादादिसिद्धि, नयोपदेश, अनेकांत-व्यवस्था, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार, द्रव्यगुणपर्याय का रास, सप्तभंगी, तर्कपरिभाषा, स्याद्वादमंजरी रत्नाकरावतारिका आदि सम्मिलित है ।

चरित्रग्रन्थों में वसुदेवहिंडि, त्रिषष्ठीशलाका पुरुष चरित्र, शत्रुंजयमाहात्म्य, कुवलयमाला, समराइच्चकहा, भविसयत्त चरियं, पुहवीचंद-गुणसागर चरियं, तरंगवती, अममचरित्र, जयानंदकेवली चरित्र आदि अनेक चरित्र हैं ।

शब्दशास्त्रो में सिद्धहेमव्याकरण, बुद्धिसागरव्याकरण, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थनाममाला, काव्यानुशासन, लिंगानुशासन, छंद पर वृत्तरत्नाकर, न्यायसंग्रह, देशीनाममाला, हेमप्रकाश, लघुहेमप्रक्रिया, उणादि प्रकरण इत्यादि रचनाएँ हैं ।

काव्यशास्त्रो में तिलकमंजरी, द्वयाश्रय काव्य, शालिभद्र चरित्र, हीर सौभाग्य, जैन मेघदूत, गौतमीय काव्य विजय प्रशस्ति, कुमारपाल चरित्र, शान्तिनाथ महाकाव्य आदि हैं ।

ज्योतिष शास्त्रादि :- आरंभसिद्धि, नारचंद्र, लग्न शुद्धि । इनके अतिरिक्त, वास्तुसार आदि शिल्प-शास्त्र तथा अन्य शास्त्र ।

गुजराती रास आदि अनेकानेक विषयो के जैन धर्म में अनेक शास्त्र है ।

अवधिज्ञानः- 'अवधि' का अर्थ है मर्यादा । अर्थात् जो ज्ञान रूपी द्रव्य विषयक हो, तथा इंद्रिय आदि की सहायता के बिना आत्मा को साक्षात् प्रत्यक्ष हो, वह 'अवधिज्ञान' है ।

यह दो प्रकार का :- १. भव प्रत्ययिक, २. गुण प्रत्ययिक । देव-नारकों को यह जन्मसिद्ध भव प्रत्येक होता है तथा मनुष्यों और तिर्यंचों को तप आदि गुणों से प्रगट होता है, अतः यह गुण प्रत्ययिक है इसके द्वारा कुछ दूर देशकाल तक रूपी पदार्थो को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है ।

अवधिज्ञान के प्रतिपाती, अप्रातपाती आदि छः प्रकार हैं । जो अवधिज्ञान नष्ट हो जाय वह 'प्रतिपाती', जो स्थिर रहे वह 'अप्रतिपाती' । जो उत्पत्ति क्षेत्र के बाहर जीव के साथ जा सके वह 'अनुगामी', जो न जा सके वह 'अननुगामी' । जो बढता जाए वह 'वर्धमान', जो घटता जाए वह 'हीयमान' ।

४. मनःपर्यव ज्ञानः- ढाई द्वीप में रहने वालें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव चिन्तन के लिए मनोवर्गणाओं में से जिस मन को बनाते है, उस मन को प्रत्यक्ष जानने का कार्य मनःपर्यव ज्ञान करता है ।

इसके अधिकारी अप्रमादी मुनि महर्षि होते हैं । इसके दो प्रकार

हैं :- १. ऋजुमति २. विपुलमति । ऋजुमति मन को सामान्य रूप से देखता है, जैसे कि 'यह मनुष्य घडे का चिन्तन कर रहा है । विपुलमति विशेष रुप से ज्ञान करता है । जैसे कि यह पाटलीपुत्र के अमुक समय में तथा अमुक द्वारा निर्मित घडे का विचार कर रहा है ।

५. केवलज्ञानः- तीनों काल के समस्त द्रव्यों को व समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देख सके यह केवलज्ञान है । केवलज्ञानी को विश्व को किसी भी काल की कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं, उसे सर्व ज्ञात ही है । अज्ञात नहीं, अतः यहाँ लेशमात्र अज्ञान नहीं, केवल ही प्रगट होता है ।

जब आत्मा समकित सहित सर्वविरति चरित्र, अप्रमत, अपूर्वकरण आदि गुणस्थानकों पर आरोहण करते हुए शुक्ल ध्यान के द्वारा सर्व मोहनीय कर्म का नाश करके सर्व-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय कर्मो का नाश कर डालता है । तब केवलज्ञान प्रगट होता है । ज्ञान कोई नया बाहर से नहीं आता वह तो आत्मा के स्वरुप में विद्यमान है । केवल उसके ऊपर आवरण लगा हुआ है । जैसे जैसे वह टूटता जाता है, वैसे वैसे ज्ञान प्रगट होता जाता है । जब समस्त आवरण नष्ट हो जाता है तब १३ वें, गुणस्थानक में समस्त लोकालोक का प्रत्यक्ष करनेवाला 'केवलज्ञान' प्रगट होता है । वहां सर्वकाल-सर्वदेश के सर्वद्रव्यो का प्रत्यक्ष होता है ।

सर्वज्ञता क्यों? :- अपने ज्ञान-स्वभाव के कारण आत्मा जड़ से पृथक् है । जैसे जैसे आत्मा पर से आवरण दूर होता है, वैसे वैसे ज्ञान प्रगट होता जाता है । दर्पण के समान ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को ग्रहण करने का है अर्थात् ज्ञेय के अनुसार परिणत होने का है । जब कोई आवरण अब शेष नहीं, तो यह स्वाभाविक है कि समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञान का विषय हों । "ज्ञान इतना ही जान सकता है, इससे अधिक नहीं" इस प्रकार ज्ञान की सीमा बांधना तर्कहीन है । 'मन कितना चिंतन कर सकता है उसकी सीमा हम क्या बांध सकते है? अतः केवलज्ञान में अतीतअनागत-वर्तमान, सूक्ष्म-स्थूल समस्त लोकालोक-वर्ती समस्त ज्ञेय का प्रत्यक्ष होता है ।'

ऐसे सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान का जो स्वामी है वह जगत् के सत्य तत्त्व तथा सच्चा मोक्षमार्ग बता सकता है । वही परम आप्त पुरूष माना जाएगा । उसी का वचन अर्थात् आगम प्रमाणभूत हो सकता है । तदुपरांत उसके वचनों का पूर्णतः अनुसरण करने वालें भी आप्त माने जा सकते है । जैसे कि गणधर महर्षि । उनके आगम प्रमाणभूत है ।

ये पांच ज्ञान प्रमाण है । इनमें अवधिज्ञानादि तीन 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हैं, तथा मति, श्रुत ये दो 'परोक्ष प्रमाण' है । किन्तु यह मान्यता पारमार्थिक दृष्टि से है । व्यवहारिक दृष्टि से, इन्द्रियों द्वारा होनें वाला साक्षात् ज्ञान यह प्रत्यक्ष माना जाता है । यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष

नहीं, किन्तु सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश होता है । वादियों की सभा में मुख्यतः प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों का आश्रय लिया जाता है ।

अनुमान प्रमाण :- अनुमान में एक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली या सुनी हुयी वस्तु अर्थात् हेतु के आधार पर इसके साथ अवश्यमेव बद्ध दूसरी वस्तु के अस्तित्व का निर्णय किया जाता है । जैसेकि दूर से ध्वजा या शिखर देखकर मन्दिर का निर्णय किया जाता है । यह अनुमान है । ध्वजा और शिखर के साथ मन्दिर का अविनाभावी अर्थात्-अवश्यंभावी संबंध है । अनुमान में पंचावयव वाक्य होते है :- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, व निगमन । ये पांच-अवयव वाक्य है (१) वाद का प्रारंभ होने पर जिस वाक्य से पहली स्थापना की जाती है, उसे 'प्रतिज्ञा वाक्य' कहते है । जैसे कि 'पर्वत पर अग्नि है' । (२) उसको सिद्ध करने के लिए हेतु दिया जाता है । जैसे कि 'क्यों कि वहां धुआं दिखायी देता है' । उसे

'हेतु-वाक्य' कहते हैं । तत्पश्चात् (३) व्याप्ति और उदाहरण बताएं जाते हैं । जैसेकि 'जहां जहां धुआं होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है । यह व्याप्तिवाक्य है । जैसे रसोई घर में' । यह उदाहरण वाक्य है ।

व्याप्ति अर्थात् (१) अविनाभाव (२) अन्यथानुपपन्नत्व । जैसेकि

साध्य 'अग्नि' और हेतु 'धुए' का अविनाभाव संबंध है । अग्नि के बिना धुऐं का भाव - सद्भाव - अस्तित्व नहीं । अतः धुआँ अग्नि का अविनाभावी हुआ । 'अविनाभावी' का तात्पर्य है जो अमुक के अभाव में न हो सके इसी प्रकार धुआं अग्नि का अन्यथानुपपन्न है । अन्यथा = बिना । अनुपपन्न = न घटित होने वाला । धुआं अग्नि के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता । 'अविनाभाव' और 'अन्यथानुपपन्नत्व' को व्याप्ति कहते है । अविनाभावी को व्याप्य और उसके दूसरे संबंधी को 'व्यापक' कहते हैं । जैसे धुआं व्याप्य है और अग्नि व्यापक है ।

व्याप्य तथा व्यापक के बीच जो व्याप्ति विद्यमान है । उस व्याप्ति का ज्ञान हो तो व्याप्य से व्यापक का अनुमान हो सकता है । यह 'अन्वयीव्याप्ति' से हुआ ऐसे कहा जाए व्यापक के अभाव द्वारा व्याप्य के अभाव का ज्ञान संभव है, इससे व्यतिरेकी व्याप्ति के द्वारा हुआ माना जाता है, (अन्वय = संबंध, सद्भाव । व्यतिरेक = अभाव) । (४) व्याप्ति और उदाहरण का ज्ञान हो जाने पर 'उपसंहार' किया जाता है । जैसेकि पर्वत में अग्नि का व्याप्य धुआं है । उसे 'उपनय' कहते हैं । (५) फिर यह निर्णय होता है कि 'पर्वत में अग्नि है' । यह 'निगमन' वाक्य है ।

ये पांच अवयव 'पदार्थ अनुमान' में (दूसरों को अनुमान करवाने में) आवश्यक है । 'स्वार्थानुमान' जो हेतु व निगमन दो से होता

है ।

आत्मा, परलोक, कर्म, आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का निर्णय 'अनुमान' प्रमाण से किया जा सकता है ।

इतर दर्शनो में प्रमा (यथार्थज्ञान) के कारण को प्रमाण कहा गया है । किन्तु प्रामाण्य की बात चले अर्थात् उसका जब विचार होता है तब उसे प्रमा का धर्म माना जाता है । किन्तु यह कैसे संभव है? प्रामाण्य तो प्रमाण का धर्म है । अतः 'प्रमाण' यह ज्ञान का करण नहीं, किन्तु स्वयं 'ज्ञान' है । अतः जैनदर्शन का कथन है 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।'

नय और निक्षेप :-

वस्तु (पदार्थ) को समग्र रूप से ज्ञान करने वाला 'प्रमाण' ज्ञान है व अंश रूप से ज्ञान करने वाला 'नय' ज्ञान है । जैसे कि चक्षु से ज्ञान किया 'यह घडा (मटका) है' यह प्रमाण ज्ञान है । यह कराने वाली चक्षु यह प्रमाण है । वस्तु में अनेक धर्म हैं, ये वस्तु के अंश हैं । क्योंकि ये धर्म वस्तु में कथंचित् अभिन्न भाव से रहते है, वास्ते इनमें से प्रत्येक धर्म वस्तु का अंश हुआ ।

वस्तु या पदार्थ में भिन्नाभिन्न रूप से (अर्थात् भेदाभेद संबंध से) अनन्त धर्म विद्यमान है । अतः वस्तु या पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है । कारण यह है कि वस्तु में अनेकानेक 'गुण' और विशेषताएँ

आदि 'पर्याय' तन्मय भाव से रहते हैं । इसके अतिरिक्त, यह वस्तु जगत् के अनन्त पदार्थो के साथ कारणता, अकारणता, कार्यता, अकार्यता, सहभाविता - विरोधिता, समानता, असमानता आदि अपेक्षा से संबद्ध है । उन अपेक्षाओं से उसमें वैसे वैसे अनेक धर्म हैं । जैसेकि दीपक के प्रकाश पर विचार करें - इसमें तेज (जगमगाहट) पीलापन आदि गुण हैं । दीपक तेल का है, मणिलाल का है, घर में है इत्यादि विशेषताऐं ये पर्याय हैं । इसी प्रकार दीपक में अन्धकार की विरोधिता है, तेल व बत्ती की कार्यता है, वस्तु-दर्शन की कारणता हैं इत्यादि अपरंपार धर्म है ।

ये 'अन्वयी धर्म' है । अन्वयी धर्म वे होते हैं जो वस्तु में अस्तित्व संबंध से बद्ध हैं । इन्हे स्वपर्याय कहते हैं । दीपक तेल का कार्य है । पानी का नही, इसलिए दीपक में पानी की कार्यता नहीं है । वैसे ही दीपक में श्याम रुप नहीं है, शीत अथवा कठिन स्पर्श नही है...आदि । ये व्यतिरेकी धर्म हैं । इनका वस्तु से सम्बन्ध नास्तिक संबंध है । इन्हे पर पर्याय कहते है ।

वैसी वैसी अपेक्षाओ से ही इन धर्मो में से किसी धर्म को या अंश को सन्मुख रखकर वस्तु का ज्ञान कराने वाला समर्थ 'नयज्ञान' है । उदाहरणतः मनु अहमदाबाद में रहता है । यद्यपि वह भारत में भी रहता है, गुजरात में भी रहता है, और अहमदाबाद में भी किसी एक पोल में रहता है, तथापि यहां अन्य नगरों की अपेक्षा

से विशेषतः 'अहमदाबाद' नगर का उल्लेख कर ज्ञान किया गया । यह नय ज्ञान है ।'

इसी प्रकार मनु के अन्य धर्म आयु, कद, आरोग्य अध्ययन आदि को भी यहां लक्ष्य में नहीं लिखा । नहीं तो ऐसा कथन किया जाता कि 'कुमार मनु' या १४ वर्ष का मनु या 'तगडा मनु' इत्यादि ।

वस्तु में किसी ऐक अपेक्षा से निश्चित हुए अंश द्वारा वस्तु का होने वाला बोध या शाब्दिक व्यवहार 'नय' कहलाता है । नय सात हैं ।

७ नय :-

नय :- जब 'नय' वस्तु के अंश का ज्ञान कराता है, तब यह सरलता से समझ सकते है कि उस अंश का ज्ञान किसी दृष्टि - बिन्दु के हिसाब से होगा । अतः नय को "दृष्टि" भी कहा जाता है । इसके भेद उतने हो सकते है जितने वचन-प्रकार है । किन्तु अधिक प्रचलित संग्रहक भेद सात है :- १ नैगमनय, २ संग्रहनय, ३ व्यवहार नय, ४ ऋजुसूत्र नय, ५ शब्द सांप्रत नय, ६ समभिरुढ नय, तथा ७ एवं भूत नय ।

(१) नैगमनय :- प्रमाण वस्तु को समग्रता से ग्रहण करता है, अतः किसी अपेक्षा की और उसका ध्यान नहीं होता । नय वस्तु को उसके अनेक अंशों में से एक अंशे के रूप में देखता है । अतः

उसकी दृष्टि अपेक्षा की और होती है । भिन्न - भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न नय ज्ञान होते हैं । स्थूल अपेक्षा से प्रारंभ का नैगम नयज्ञान होता है । सूक्ष्म अपेक्षा से उत्तर के नयों का ज्ञान होता है ।

प्रत्येक पदार्थ में सामान्य अंश और विशेष अंश होते है । जैसेकि वस्त्र अन्य वस्त्रों के समान वस्त्र सामान्य है । किन्तु एक अंगरखे के रूप में वस्त्र विशेष है । यह भी बाद में दूसरे अंगरखों की पंक्ति में अंगरखाँ सामान्य है । परन्तु सफेद होने के कारण दूसरे रंगीन अंगरखों की अपेक्षा से अंगरखा विशेष है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप भी है, व विशेष रूप भी है । इसी सफेद अंगरखे को विशेष रूप से देखा । किन्तु यही सूती होने के कारण अन्य रंगीन अंगरखों के साथ सामान्य रूप है ।

सूती के रूप में रेशमी अंगरखां की अपेक्षा यह अंगरखा विशेष है । इसमें भी दूसरे रेशमी अंगरखों की दृष्टि से वह सामान्य है । किन्तु विशेष सिलाई के रूप में विशेष है । इस प्रकार पदार्थ में कितने ही सामान्य व विशेष है । उस उस अपेक्षा से पदार्थ अनेक सामान्य रूप है, और अनेक विशेषरूप है । इस कार्य को नैगम नय करता है । नैगम = नैक गम । नै = अनेक, गम = बोध, अनेक बोध अर्थात् अनेक सामान्य और अनेक विशेष रुपों से ज्ञान यह नैगम नय द्वारा ज्ञान है । इतना अवश्य है कि एक समय में

किसी अमुक सामान्य या अमुक विशेष रूप से ही नैगमनय ज्ञान होगा ।

(२) संग्रह नय :- यह वस्तु को केवल सामान्य रूप से जानता है, जैसेकि 'मोह क्यों करते हो? अंत में सब कुछ नाशवंत है ।' यहां समग्र को एक 'नश्वर-सामान्य' के रूप जान लिया है, यह संग्रहनय ज्ञान है । 'जीव कहें या अजीव, सब कुछ सत् है ।' 'क्या तिजोरी, क्या बंगला, सब कुछ नश्वर हैं ।' 'वट कहो या पीपल, सब वन हैं । ये सब उदाहरण संग्रह-नय के है ।' संग्रहनय विशेष को नगण्य गिनता है । इसके मत में सामान्य ही वस्तु है ।

(३) व्यवहारनय :- यह लोक - व्यवहार के अनुसार वस्तु को केवल विशेषरूप से जानता है । इसकी मान्यता है कि मात्र सामान्यरूप से कोई सत् वस्तु है ही नहीं । जो व्यवहार में है, उपयोग में आता है वह विशेष ही सत् है । जगत में वट, पीपल, बबूल आदि में से कोई भी न हो, क्या ऐसे वृक्ष जैसे कोइ पदार्थ है? नहीं । जो है सो वट है, या पीपल है, या बबूल आदि है । अतः विशेष ही वस्तु है ।

(४) ऋजुसूत्र नय :- इससे भी अधिक गहराई में जाकर यह ऋजुसूत्र नय 'ऋजु' अर्थात् सरल 'सूत्र' से वस्तु का ज्ञान करता है । जो वस्तु वर्तमान हो और अपनी ही हो, उसे ही यह वस्तुरूप में स्वीकार करता है । जैसे कि गुम हो गए अथवा लूटे गए धन

को धन नहीं, 'परन्तु इस समय विद्यमान शेष धन की मात्रा के आधार पर कहा जायगा कि मेरे पास इतना धन है ।' इसी प्रकार किसी की देखरेख अधीनता समाज में दिए गए धन के आधार पर नहीं, किन्तु अपने स्वामित्व के आधार पर कहा जा सकता है कि 'मैं सहस्त्रपति हूं, लखपति हुं' आदि । यह ऋजुसूत्र नय का ज्ञान हैं ।

(५) शब्द (सांप्रति) नयः- इससे भी गहराई में जाकर शब्द नय वस्तु को जब तक वह समान लिंग 'वचन - वाली होती है तब तक ही उस रूप में जानता है । लिंग और वचन के भिन्न होने पर वस्तु भी भिन्न हो जाता है ऐसा मानता है । जैसे कि घडा, कलश और कुंभ समान वस्तु है । घड़ी, लुटिया गागर ये इनसे पृथक् वस्तुएँ है । प्रसंगवश इस विवक्षा से भिन्न स्वरूप का बोध अथवा व्यवहार होता है और वह शब्दनय का विषय है । जैसे कि यह पत्नी नहीं, दार है, क्योंकि पुरूष जैसी है । 'इसी प्रकार घटी या छोटा घट (या घड़ा) ही है । तो भी कहा जाता है' यह घड़ा क्यों लाए? मुझे तो घटी की जरूरत है ।

(६) समभिरूढ नय :- इस नय की मान्यता है कि वस्तु में अभी या पहले - पीछे शब्दार्थ घटित होता हो, तभी उसे वस्तु के रूप में स्वीकृत किया जाय । उदाहरणतः किसी बालक का इन्द्र नाम रखा हैं, परन्तु वह वास्तविक इन्द्र नहीं । यथार्थ इन्द्र तो देवताओं का स्वामी है, क्योंकि 'इन्द्र' शब्द का अर्थ है 'इन्दन युक्त'

अर्थात् ऐश्वर्यसम्पन्न । यह अर्थ देवेन्द्र में ही घटित होता है । इन्द्र प्रभु को मेरूशिखर पर ले जाता है । 'इन्द्र' का यह ज्ञान या व्यवहार समभिरूढ नय का हैं । अलबत्ता इन्द्र के सिंहासन पर बैठी हुई इन्दन = ऐश्वर्य संपन्न अवस्था - वाला अभी नहीं है किन्तु पहले ऐसी अवस्थवाला था ही, वही व्यक्ति प्रभु को महाशिखर पर ले जाता हैं ।

(७) एवंभूत नय :- यह नय और अधिक गहनता में प्रवेश करता है । इसके अनुसार वस्तु को उसके वाचक शब्द में तभी सम्बोधित करना चाहिए जब शब्द का अर्थ वर्तमान में उसमें घटित हो रहा हो, नहीं कि वस्तु में शब्दार्थ पहले घटित होता था, इतने मात्र से अतीतकाल में अर्थ घटित होता था । यह आधार इस नय को स्वीकार्य नहीं । जैसेकि 'इन्द्र चक्रवर्ती की अपेक्षा से भी अधिक वैभवशाली सम्राट है ।' इस में इन्द्र का ज्ञान एवंभूत नय के अनुसार हो रहा है । क्योंकि देवसभा में सिंहासन पर इन्द्रत्व के, एश्वर्य के साथ विराजमान ही देवराज को इन्द्र के रूप में समझा जा रहा है । इसी प्रकार रसोई के समय 'घी का डब्बा लाओ' (अर्थात् घी से भरा हुआ डब्बा लाओ) यह बात जो कही जाती है यह एवंभूत नय की अपेक्षा से । क्योंकि वहां तात्पर्य घी से भरे हुए ही डब्बे से है, घी के खाली डब्बे से नहीं । (पहले धी डाला जाता था, *किन्तु अब खाली है ऐसे घड़े का बोध यदि इस प्रकार कराया जाय* कि 'यह घी का घड़ा छोटा है', तो यह समभिरूढ नय का ज्ञान

हुआ ।)

इस प्रकार वस्तु वही की वही रहने पर भी भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से अमुक अमुक निश्चित प्रकार से बोध होता है, और तदनुसार व्यवहार भी किया जाता है, यह विभिन्न नयो के घर का है । पदार्थ पर, द्रव्य पर, पर्याय पर, बाह्य व्यवहार पर, अथवा आंतरिक भाव पर दृष्टि रखकर भिन्न भिन्न नयों का प्रवर्तन होता है । उपर्युक्त सात नयों का संक्षेप शब्दनय अर्थनय, अथवा द्रव्यार्थिकनय - पर्यायार्थिकनय, या निश्चयनय-व्यवहारनय इत्यादि रूपों में हो सकता है ।

निक्षेप :-

एक ही नाम अलग अलग पदार्थो के लिए प्रयुक्त होता है । 'जैसे - १. किसी बालक का नाम राजाभाई रखा गया है । उसे राजा के नाम में संबोधित किया जाता है । इस प्रकार २. राजा के चित्र को भी राजा कहा जाता है । ३. कभी कभी राजा के पुत्र को भी राजा कहा जाता है । जेसे यह पिता की अपेक्षा सवाया राजा है ।' ४. वास्तविक राजा को भी राजा कहते है । इस प्रकार राजा का स्थापन (i) केवल नाम में अथवा (ii) आकृति में, अथवा (iii) कारण द्रव्य में भी होता है । राजत्व के भाव में तो होता ही है । जैन शास्त्र में इसे निक्षेप कहते हैं । निक्षेप सामान्यतः चार प्रकार के होते हैं ।

निक्षेप एक प्रकार का वस्तु का विभाग है । प्रत्येक वस्तु के कम से कम चार निक्षेप, चार विभाग पडते हैं । जैसे कि नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप, भावनिक्षेप ।

(१) नामनिक्षेप :- अर्थात् (i) अमुक नाम का पदार्थ, या (ii) नाम जैसेकि इन्द्र नाम का बालक, अथवा (iii) इन्द्र यह नाम । इसी प्रकार जैनत्व के किसी भी गुण विहीन नाममात्र से जैन, अथवा 'जैन' यह नाम; नाम निक्षेप से जैन है ।

(२) स्थापना निक्षेप :- अर्थात् मूल व्यक्ति की मूर्ति, चित्र, फोटो आदि, या आकृति । यह मूर्ति आदि में मूल वस्तु की स्थापना अर्थात् धारणा की जाती है । जैसे मूर्ति को लक्ष्य कर के कहा जाता है : 'यह महावीर स्वामी है' । नक्शे में कहा जाता है 'यह भारत देश है', 'यह अमेरिका है' इत्यादि स्थापना निक्षेप से व्यवहार है ।

(३) द्रव्य निक्षेप :- द्रव्यनिक्षेप का अर्थ है मूल वस्तु की पूर्व-भूमिका, कारण-अवस्था अथवा उत्तर अवस्था की उपादान (आधार) रूप वस्तु, या चित्त के उपयोग से रहित क्रिया । जैसे कि भविष्य में राजा होने वाले राजपुत्र को किसी अवसर पर 'राजा' कहा जाता है, वह द्रव्यराजा है । तीर्थंकर होने वाली आत्मा के विषय में तीर्थंकर बनने से पहेले भी 'मेरू पर तीर्थंकर का अभिषेक होता है' इत्यादि वचन कहे जाते हैं । अथवा जब समवसरण पर बैठकर तीर्थ की स्थापना नहीं कर रहे है । किन्तु विहार कर रहे हैं, तब भी उन्हे

तीर्थंकर कहा जाता हैं । यह तीर्थंकर अवस्था की उपादान भूत अथवा आधारभूत वस्तु है । इसी प्रकार चंचल चित्त से किया जाने वाला प्रतिक्रमण यह द्रव्यप्रतिक्रमण है, द्रव्य आवश्यक है ।

(४) भावनिक्षेप :- नाम विशेष का अर्थ यानी भाव, वस्तु की जिस अवस्था में ठीक प्रकार से लागू हो, उस अवस्था में वस्तु को भावनिक्षेप में माना जाता है । जैसे कि समवसरण में देशना दे रहे हैं, तब तीर्थंकर शब्द का अर्थ यानी भाव 'तीर्थ को करने वालें, देशना देकर तीर्थ को चलाने वालें यह लागू होता है । अतः वह तीर्थंकर भावनिक्षेप में गिने जाते है । साधुत्व के गुणों वाला साधु, 'देव-सभा में सिंहासन पर ऐश्वर्य-समृद्धि से शोभायमान इन्द्र' आदि भाव-निक्षेप में है ।

यहां जैसे 'द्रव्यनिक्षेप' कारणभूत पदार्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही बिलकुल कारण भूत नही, किन्तु आंशिक रूप से समान दिखायी देने वाली तथा उस नाम से संबोधित गुणरहित मिलती-जुलती वस्तु में भी प्रयुक्त होता है । जैसे कि अभव्य आचार्य भी 'द्रव्यआचार्य' है । प्रातःकाल किए जाने वाला दातुन स्नानादि भी द्रव्यआवश्यक है ।

एक व्यक्ति में भी चारों निक्षेप घटित हो सकते है । शब्दात्मक नाम; यह नामनिक्षेप है । आकृति; यह स्थापनानिक्षेप है । कारण भूत अवस्था; यह द्रव्य निक्षेप है । उस नाम कि भाव अवस्था; यह

भावनिक्षेप है ।

प्रत्येक पदार्थ के चार निक्षेप तो होते ही है किन्तु कुछ पदार्थो के अधिक भी होते है । जैसे कि, लोक के क्षेत्रलोक काललोक, भवलोक आदि निक्षेप भी होते हैं । ऐसा वर्णन किया जाता है कि 'जीव व जड़ पदार्थ लोक में रहते हैं, अलोक में नहीं' यहां 'लोक' का आशय है क्षेत्रलोक । 'जीव' अज्ञान के कारण लोक में भ्रमण करता है, यहां 'लोक' से अभिप्रेत है भव ।

अनेकान्तवाद (= स्याद्वादःसापेक्षवाद) :-

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, किन्तु अन्य दर्शनों के समान एकान्तवादी नहीं है ।

एकान्त का यह तात्पर्य है कि वस्तु में जिस धर्म की बात प्रस्तुत हो, मात्र उसी धर्म के होने का निर्णय या सिद्धांत, तथा उसके प्रतिपक्षी सत् भी धर्म का निषेध या इन्कार ।

अनेकान्त का अभिप्राय यह है कि वहां उस धर्म का अस्तित्व होने का तथा अन्य अपेक्षाओं से घटित होनेवालें उसके प्रतिपक्षी धर्मो का भी अस्तिव होने का निर्णय या सिद्धांत । यहां पूर्वजन्म का स्मरण होता है इससे सूचित होता है गतजन्म में जो आत्मा थी, वह आत्मा ही यहां है । अतः सिद्ध है कि देह नाशवंत है । किन्तु आत्मा अविनाशी है । अब एकान्तवादी न्यायादि दर्शन आत्मा को अनित्य

नहीं मानेगा, चाहे पूर्वकी मानव-आत्मा नष्ट हो अब देवआत्मा हुई। अनेकान्त का तात्पर्य यह है कि उस धर्म के होने का एवं दूसरी अपेक्षा से घटमान इसका प्रतिपक्षी धर्म भी होने का निर्णय या सिद्धान्त। जैसे की एकान्तवादी के मतानुसार 'आत्मा नित्य है अर्थात् नित्य ही हैं, अनित्य है ही नहीं ।' अनेकान्त वादी के मतानुसार 'नित्य' भी है 'अनित्य' भी है, अर्थात् नित्यानित्य है । ध्यान में रहे : यह अनेकान्त वादि परिस्थिति किसी भी प्रकार से संशय-अवस्था या अनिश्चित-अवस्था नहीं हैं, परन्तु निश्चित, असंदिग्ध अवस्था ही है। क्यों कि दोनों में से नित्य होना भी निश्चित और दृढ रुप से है ही, तथा अनित्य होना भी निर्णीत और असंदिग्ध रुप से है ही।

प्रश्नः- एक ही वस्तु नित्य भी हो और अनित्य भी, क्या यह बात परस्पर विरोध वाली नही? विरूद्ध धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं?

उत्तरः- वस्तु के दो रूप है (१) मूलरूप तथा (२) अवस्था रूप। वस्तु मूल रुप से कायम रहती है, अर्थात् नित्य है, स्थिर है, फिर भी अवस्था रूप से कायम नहीं, स्थिर नहीं, अनित्य है । जैसे स्वर्ण; स्वर्ण के रूप में स्थिर रहता हैं । तथापि गुल्लो के रुप में या कडे के रुप में कायम नहीं रहता, यह बात स्पष्ट द्रष्टिगोचर होती है। सोना अवस्था रुप से परिवर्तित होता रहता है । दूसरे शब्दो में वह अवस्था रुप में अनित्य है । अलबता नित्यत्व और अनित्यत्व विरुद्ध

है वे एक ही अपेक्षा से विरूद्ध होते हुए ही स्थान में नहीं रह सकते । किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही स्थान में साथ रह सकते है । अतः विरूद्ध नहीं है ।

दृष्टान्त रूप में पितृत्व और पुत्रत्व वैसे परस्पर विरुद्ध है । पिता, यह पुत्र नहीं । पुत्र यह पिता नहीं, पितृत्व और पुत्रत्व और पुत्रत्व एक ही व्यक्ति की अपेक्षा से एक व्यक्ति में एक साथ रहने का संभव नहीं है । किन्तु भिन्न भिन्न व्यक्ति की अपेक्षा से ये दोनों धर्म एक हीं में साथ रह सकते है ।

राम अकेले दशरथ की अपेक्षा से पुत्र व पिता दोनों रूप में नहीं थे । किन्तु दशरथ की अपेक्षा से पुत्र तो थे ही न? एवं लव-कुश की अपेक्षा से पिता भी थे न? इस प्रकार राम में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों साथ साथ थे । इसी तरह स्वर्ण; मूल स्वर्णद्रव्य की दृष्टि से नित्य (कायम) हैं, किन्तु कड़ेपन, कंठीपन आदि की अपेक्षा से स्थिर नहीं, अनित्य है इस प्रकार स्वर्ण में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों है ।

वस्तु में अमुक अमुक अपेक्षाओं से ही वैसे वैसे धर्म रहते है; अत एव उन धर्मो का दर्शन एवं प्रतिपादन उन उन अपेक्षाओं के आधार पर ही सच्चा हो सकता है; किन्तु उससे अतिरिक्त ही गलत अपेक्षा से नहीं । अन्य अपेक्षा से तो अन्य धर्म का अस्तिव कहना पड़ेगा ।

जैसे कि आत्मा जीव के रूप से ही नित्य है, किन्तु मनुष्य के रूप से नित्य नही, कायम नहीं, मनुष्य की अपेक्षा से तो उसे अस्थिर अनित्य ही मानना होगा । इस प्रकार अलग अलग अपेक्षा से अलग अलग धर्म एक ही वस्तु में रह सकते हैं, उनमें परस्पर विरुद्ध दिखाई पडनेवाले धर्म भी हो सकते हैं ।

उदाहरणार्थ पानी से आधा भरा हुआ गिलास भरा भी है और खाली भी है । तीसरी ऊँगली छोटी भी है और बडी भी है । अतः एकान्तरूपेण एक ही धर्म का आग्रह रखना मिथ्या है । तात्पर्य यह है कि वस्तु 'नित्य' है, 'एक' है आदि कथन निरपेक्ष रूप से नहीं, अथवा सभी अपेक्षाओं से नहीं, किन्तु 'कथंचित्' अर्थात् किसी एक अपेक्षा से । इस अनेकांतवाद सिद्धांत को 'कथंचिद्वाद', 'स्याद्वाद', 'सापेक्षवाद' भी कहते हैं ।

'स्याद्' अर्थात् कथंचित् अर्थात् अमुक अपेक्षा से उस धर्म या परिस्थिति का प्रतिपादन स्याद्वाद है । समझना-देखना अथवा बोलना यह एकान्त दृष्टि से नहीं किन्तु अनेकांत दृष्टि से प्रमाणिक होता है । अतः अनेकान्तवादी का सिद्धांत प्रमाणिक है । जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, स्याद्वादी है, सापेक्षता के सिद्धांत को मानने वाला है । कुछ समय पूर्व हुए वैज्ञानिक आइन्सटाइन को भी पर्याप्त शोध के पश्चात् अंत में Principle of Relativity (सापेक्षता के सिद्धांत) का निर्णय व प्रतिपादन करना पड़ा था ।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य :-

यथार्थ दर्शन तभी होता है जब वस्तु मात्र को सापेक्ष दृष्टि से देखा जाय । क्योंकि वस्तु का सबंध अनेक पदार्थो के साथ संबंध होता है । इसी प्रकार वस्तु में मूल स्वरूप और नवीन-नवीन अवस्थांए अर्थात् द्रव्यत्व और पर्याय ये दो स्थितियां होती हैं । द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ ध्रुव रहता है और पर्याय रूप से उत्पन्न होता है तथा नष्ट (नाश को प्राप्त) होता है ।

वस्त्र पहले धान के रूप में था । अब उसके कोट, कमीज़ आदि 'कपडे' सिलाए गएँ । वस्त्र वस्त्रद्रव्य के रूप में तो स्थिर रहा, परन्तु धान-पर्याय के रूप में नाश हुआ और कोट-कमीज आदि-पर्याय रूप से उत्पन्न हुआ ।

मनुष्य कर्मचारी-पर्याय के रूप में से हटा और अधिकारी-पर्याय के रूप में प्रगट हुआ । यहां भी वह मनुष्य द्रव्य के रुप में कायम रहा, पर्याय रुप में परिवर्तित हुआ ।

वस्तु उत्तरोत्तर क्षणों में वस्तु - रुप में तो विद्यमान रही । किन्तु दूसरी क्षण में दूसरी क्षण की वस्तु बनी, इस क्षण की वस्तु नहीं रही । इस तरह पर्याय रुप से वस्तु का उत्पाद और विनाश है, द्रव्य-रूप सें उसका ध्रौव्य, स्थैर्य रहता है ।

यह सामान्य उदाहरण है, वास्तव में प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है,

यह बात भगवान ने अपने केवलज्ञान से देखी है तथा यह भगवान को ध्यान द्वारा अनुभव की हुई है । आजका विज्ञान भी यही बताता है कि प्रत्येक अणु में निहित परमाणु प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होते है और नष्ट भी होते है, तो भी वस्तु स्वरूप से वैसी ही दिखती है । जो बाहर से दिखता वह ध्रौव्य है तथा अन्दर से जो उत्पन्न होता है व जो अंतर्मग्न होता है यह उत्पाद, व्यय है ।

यह स्थिति समस्त विश्व में है । विद्यमान माना जाने वाला आकाश भी एकान्त रूप से मात्र नित्य ही नहीं है, वह अनित्य भी है । जैसे कि आकाश घटाकाश रुप से, परब (प्याऊ) आकाश रूप से अनित्य है ।

जब प्याऊ की झोंपड़ी बनायी गयी, तब उतने परिमाण का प्याउ- झोंपड़ी आकाश नया उत्पन्न हुआ । जब वह झोंपड़ी टूट गयी तब वह प्याऊ-आकाश नष्ट हो गया । यह प्याऊ-आकाश से पृथक् वस्तु नहीं, अतः कहा जाता है कि आकाश ही उस रूप में उत्पन्न और नष्ट हुआ । आकाश रूप में वह स्थिर है । विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य की महासत्ता व्याप्त है ।

सप्तभंगी :-

वस्तुद्रव्य में अनन्त पर्याय, अनन्त धर्म विद्यमान हैं अतः वस्तु अनन्त पर्यायात्मक, अनंत धर्मात्मक होती है । वे धर्म अमुक-अमुक अपेक्षा से होते हैं, दूसरी अपेक्षा से नहीं होते है । इस अपेक्षा पर

सात प्रकार के प्रश्न खड़े होते है । इन सातों प्रकारों को 'सप्तभंगी' कहते हैं ।

पहले वस्तु के अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अर्थात् दड़ (द्रव्य), स्थान, समय और गुणधर्म का विधेय स्वरुप में विचार करें तथा इनसे विपरीत निषेध्य स्वरूप से विचार करों, दोनों स्वरुप वस्तु के साथ संलग्न हैं ।

उदाहरण : घड़ा एक वस्तु है । इसके साथ स्वद्रव्य (उपादान)-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव का सम्बन्ध है । किन्तु वह द्रव्य के साथ विधेय रूप में यानी अस्तित्व रुप में, यानी परस्पर संलग्न यानी अनुवृत्ति रुप में संबद्ध है । अर्थात् यह स्वद्रव्य-मिट्टी आदि घटमय है। घड़े के साथ परद्रव्य, परक्षेत्र,परकाल, परभाव का भी सम्बन्ध है। किन्तु वह द्रव्य के साथ नास्ति रुप में, निषेध्य रुप में, पृथक् रूप में, व्यावृत्ति रूप से है अर्थात् ये घट से सर्वथा अस्पृश्य हैं ।

किसी एक घड़े का स्वद्रव्य मिट्टी है, स्वक्षेत्र रसोई घर है, स्वकाल कार्तिक मास है, स्वभाव लाल, बड़ा, मूल्यवान आदि है । क्योंकी घडा मृतिकामय है, रसोई घर में है, कार्तिक मास में वर्तमान है, तथा वह स्वंय लाल है, बडा है आदि । ये सब स्वद्रव्यादि विधेय है ।

इसके विपरीत घडे का 'परद्रव्य' सूत्र (धागा) है, 'परक्षेत्र' छत है, 'परकाल' मार्गशीर्ष मास है, 'परभाव' काला छोटा सस्ता आदि

हैं । 'पर' माने अपना (स्व) नहि, क्योंकि घड़ा धागे का नहीं है, छत पर नहीं है । मार्गशीर्ष मास में नहीं है, काला छोटा आदि नहीं है । अतः धागा आदि घडे के परद्रव्य, परक्षेत्र आदि है । घडे के साथ व्यावृत्ति संबंध से सम्बद्ध है ।

प्र.- पर पर्याय अपने कैसे?

उ.- जैसे स्वपर्याय अपने है वैसे परपर्याय भी अपने ही है । वह इस प्रकार, :- 'मिट्टी का धडा धागे का नहीं है ।' इस पर पूछा जाए - 'मिट्टि का कौन?' तो कहना होगा - 'घडा' । 'धाने का कौन नहीं?' तो कहना होगा 'घडा' । घडे में मिट्टी अनुवृत्ति संबध से संबद्ध है । घडे में धागे व्यावृत्ति संबंध से संबंध है । तात्पर्य; स्वपर्याय परपर्याय घडे के साथ ही संबद्ध है, एक अनुवृत्ति संबंध से, दूसरा व्यावृत्ति संबंध से, लेकिन दोनों है घडे के ।

अब ये स्वद्रव्यादि तथा परद्रव्यादि विधेय और निषेध्य सम्बन्ध से घड़े के ही धर्म है । अतः इन दो प्रकार के संबन्धियों कि अपेक्षा से सात प्रश्न प्रस्तुत होते हैं ।

१. स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से घड़ा कैसा है? कहा जायेगा कि 'अस्ति' अर्थात् 'सत्' । मिट्टी का घडा है? है ।

२. परद्रव्यादि की अपेक्षा से घड़ा कैसा है? उत्तर होगा 'नास्ति' अर्थात् असत् । घडा स्वर्ण का है? नहीं ।

३. घड़ा स्वद्रव्यादि तथा परद्रव्यादि की क्रमशः अपेक्षा से कैसा है? उत्तर होगा 'अस्ति और नास्ति' ।

४. एक साथ दोनों अपेक्षाओं से घड़ा कैसा? 'अवक्तव्य' । अर्थात् जिसको एक शब्द से परिचय न दिया जा सके, पहचान न की जा सके । यदि सत् कहें तो दोनों अपेक्षाओं से सत् नहीं है । इसी तरह दोनों अपेक्षाओं से असत् भी नहीं है । तब सत्-असत् भी नहीं कहा जा सकता । क्या वह स्वद्रव्य, परद्रव्य दोनों अपेक्षाओं से सत् है? नहिं । तो क्या असत् है? नहीं । अर्थात् दोनों संयुक्त अपेक्षाओं से न तो सत् है और न असत्? केवल स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से भी सत् असत् नहीं, परद्रव्यादि की अपेक्षा से भी सत् असत् नहीं । अतः एक साथ दोनों की अपेक्षा से क्या कथन किया जाय? यह विचारणीय हो जाता है । तात्पर्य यह है, कि वह अवाच्य है, अवक्तव्य है ।

५. घड़ा क्रमशः स्वद्रव्यादि और उभय-अपेक्षा से कैसा हैं? तब कहना पड़ेगा कि अस्ति (सत्) और अव्यक्तव्य ।

६. घड़ा क्रमशः परद्रव्यादि तथा उभय अपेक्षा से कैसा है? नास्ति (असत्) और अवक्तव्य ।

७. घड़ा क्रमशः स्वद्रव्यादि, परद्रव्यादि तथा उभय अपेक्षा से कैसा है? - अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ।

सारांश यह है कि घट में अस्तित्व नास्तित्व (सत्त्व, असत्त्व) दोनों धर्म विद्यमान हैं, किन्तु वें भिन्न भिन्न अपेक्षा से हैं । जिस समय सत् है उसी समय असत् भी हैं । प्रसंगवश चाहे हम अकेले सत् का प्रतिपादन करें, किन्तु ऐसा यह समझकर होगा कि असत् भी हैं । इसका अर्थ यह है कि पदार्थ को सत् कहना किसी अपेक्षा से है ।

इस अपेक्षा के भाव को सूचित करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग होता है । कहा जाता है कि घड़ा स्यात् सत् है, परन्तु सत् तो निश्चित है ही । इस निश्चितता का भान कराने के लिए 'एव' पद का प्रयोग किया जाता है । (एव = ही) अब प्रतिपादन का अन्तिम रूप यह होगा- 'घटः स्यात् असत् एवं' -घडा कथंचित् असत् है ही । शेष के प्रतिपादन भी इस प्रकार होते है । इसे सप्तभंगी कहते हैं ।

इस प्रकार की सप्तभंगी सत् असत् के समान 'नित्य-अनित्य', 'छोटा-बड़ा', 'उपयोगी-निरुपयोगी', 'मूल्यवान-साधारण' आदि को लेकर भी होती है । इन सब स्थानों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाएँ काम करती हैं ।

उदाहरणतः, घट द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है ही । घडा; बडा घडा भी है,छोटा भी है । घटी की अपेक्षा से घडा बड़ा है, कोठी की अपेक्षा से छोटा है । पानी

भरने की अपेक्षा से उपयोगी है, घी अथवा दूध भरने की अपेक्षा से निरुपयोगी ही है ।

अपेक्षा का उल्लेख न भी किया जाए तो भी उसे अध्याहार से समझ लेना चाहिए । अतः सापेक्ष वचन सच्चा होता है, निरपेक्ष नहीं । कहा भी है कि 'वचन निरपेक्ष व्यवहार मिथ्या होता है, वचन सापेक्ष व्यवहार सच्चा होता है ।' जिनवचन की उपेक्षा वाला व्यवहार, या क्रिया असत्य मिथ्या हैं जिनवचन की अपेक्षा रखने वालें, व्यवहार और क्रिया सत्य है, सम्यग् है ।

जिनवचन अनेकान्तवादी है; सापेक्षवादी है । अतः अनेकान्तवाद (सापेक्षवाद) का अनुसरण करने वाला कथन ही सत्य हैं ।

अनुयोग :-

'अनुयोग' अर्थात् व्याख्यान, वर्णन, निरूपण । जैनशास्त्रो में अनेक विषयों पर व्याख्यान उपलब्ध हैं । इन्हें चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है । अतः अनुयोग मुख्यतः चार है :- द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग ।

१. द्रव्यानुयोग :- जिसमें जीव, पुद्गल आदि द्रव्यो का निरूपण है । जैसे कि कर्मशास्त्र, सन्मतितर्क आदि दर्शनशास्त्र, स्थानांग सूत्र, लोकप्रकाश, प्रज्ञापना सूत्र, तत्त्वार्थ महाशास्त्र, विशेषावश्यक भाष्य आदि ।

२. गणितानुयोग :- जिसमें गिनतियों के भांगे, माप आदि का वर्णन है । जैसे कि सूर्यप्रज्ञप्ति, क्षेत्रसमासादि ।

३. चरणकरणानुयोग :- जिसमें चारित्र और आचार-विचार का वर्णन है । जैसे आचारांग, निशीथ, धर्मसंग्रह, श्राद्धविधि, आचारप्रदीप आदि ।

४. धर्मकथानुयोग :- जिसमें धर्मप्रेरक कथाओं दृष्टान्तों का वर्णन है । जैसे कि ज्ञाता अध्ययन, आगम, समरादित्य-चरित्र, त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र आदि ।

आत्मा एवं कर्म

चित्र परिचय

मध्य भागमें शुध्ध स्वरूपी आत्मा है। अनंत ज्ञानादि आत्माके आठ गुण हैं। ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मके बादल छाये हुए हैं। इससे आत्माके गुण दब गये हैं, और अज्ञान निद्रा आदि दोष प्रकट रूपमें दिखते हैं। संसारकी सब अवस्थाएँ कर्मोंके प्रभावसे हैं।

जयंभाम सेवा ट्रस्ट, मुंबई

२. कर्म चक्र

३. जीवविज्ञान

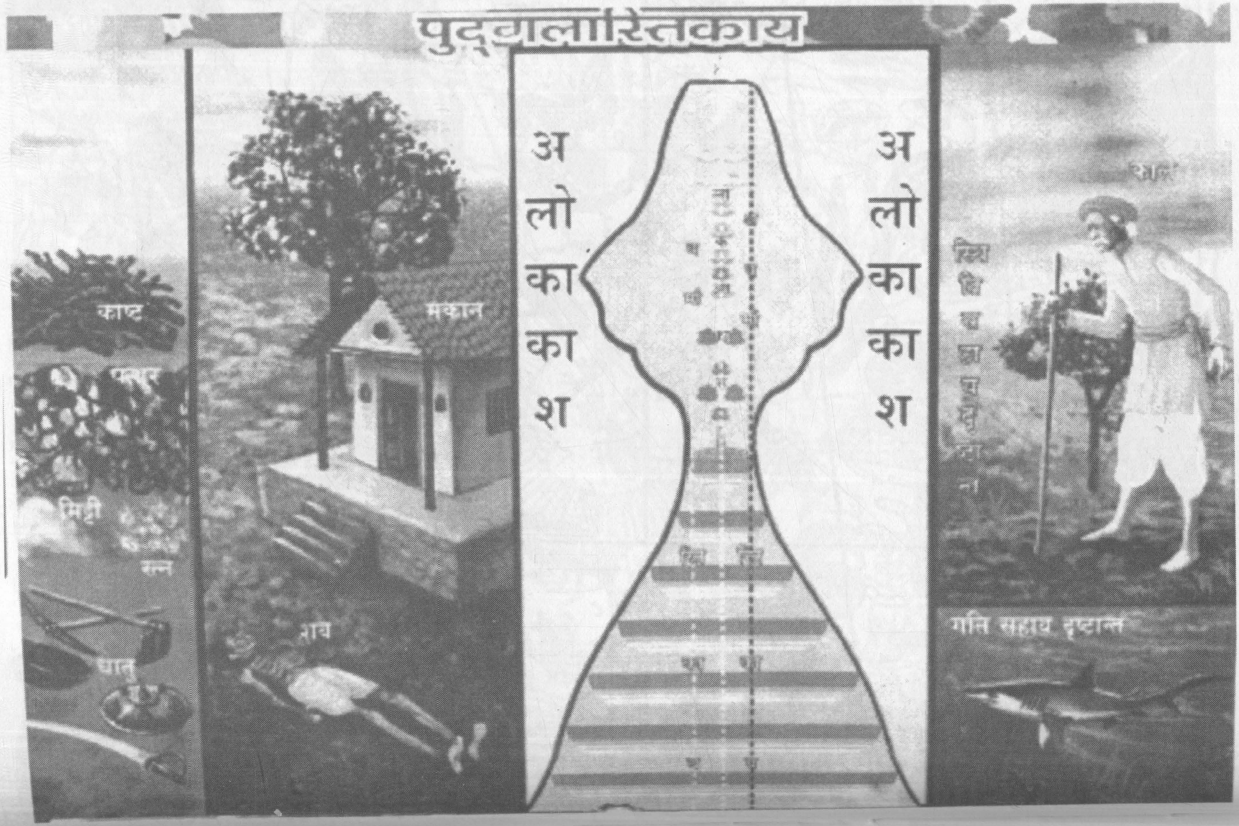
पुद्गलास्तिकाय
अ लो का का श
अ लो का का श
मकान
घाट
मिट्टी
धातु
गति सहाय दृष्टान्त

५. नवतत्त्व-जीव सरोवर

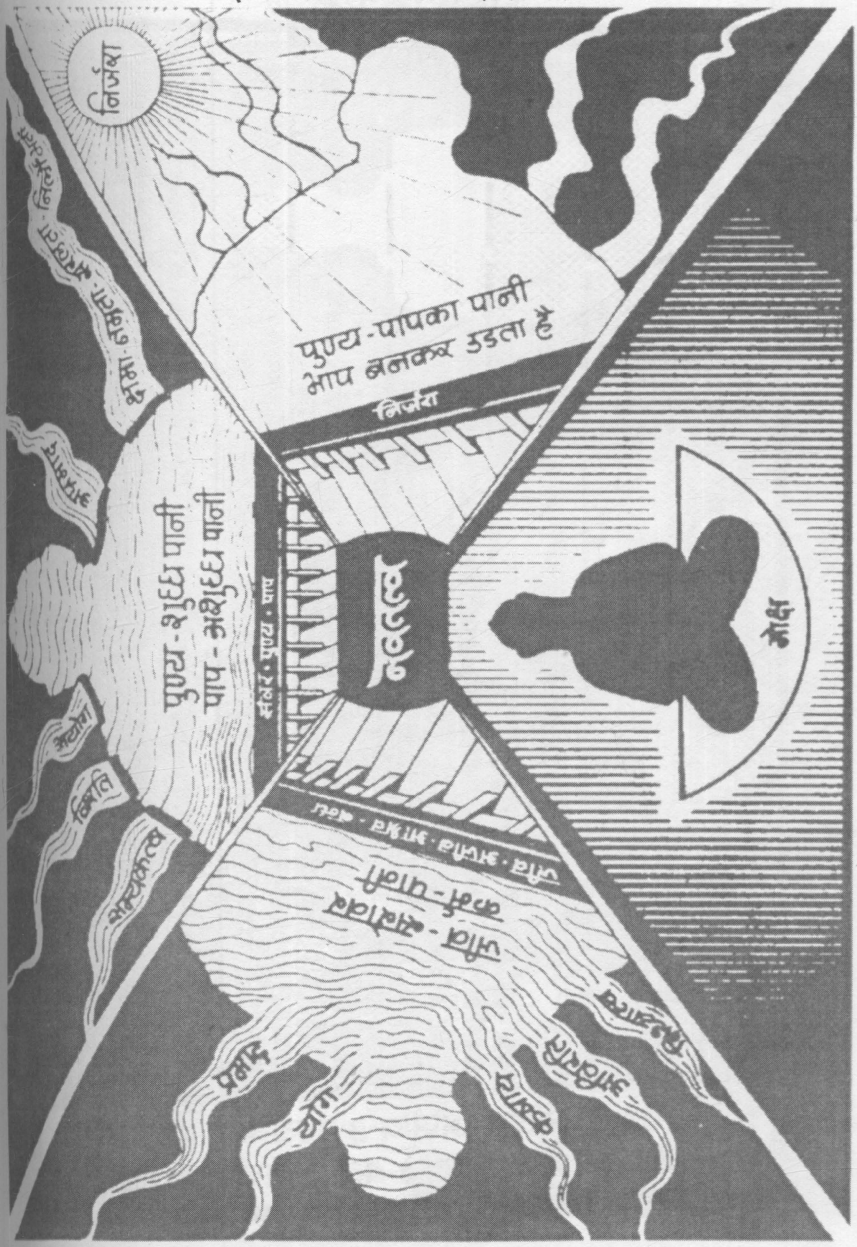

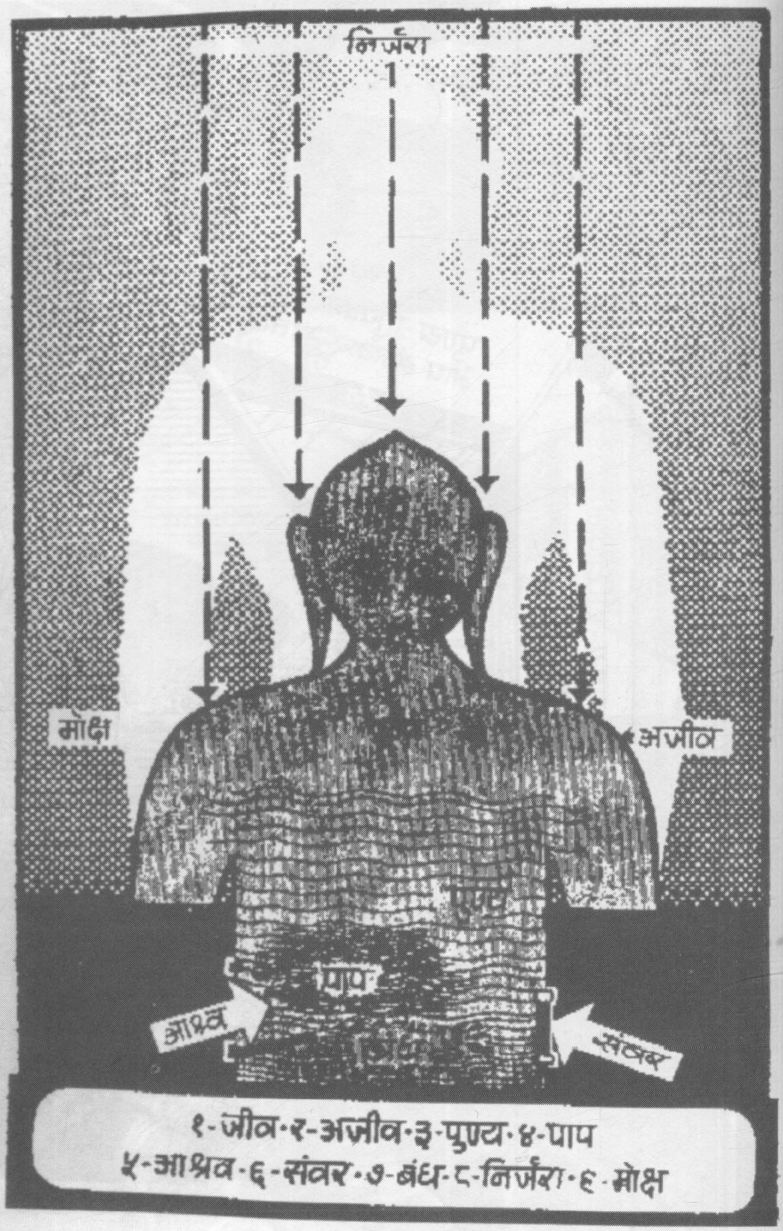
निर्जरा
मोक्ष
अजीव
पुण्य
आश्रव
संवर
१-जीव-२-अजीव-३-पुण्य-४-पाप
५-आश्रव-६-संवर-७-बंध-८-निर्जरा-९-मोक्ष

जीव
मृत शरीर
जीव सहित शरीर

८. चार धर्म

९. गुरु तत्त्व

१०. संवर तत्त्व

ACHARYA SHRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SHRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba Gandhinagar-382007.

कृति

जैन धर्म का परिचय

(हिन्दी आवृत्ति)

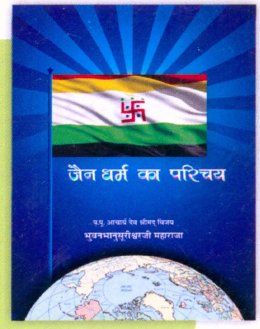

42 - 42 सालों तक साप्ताहिक 'दिव्य दर्शन' पत्र का आलेखन करके पूज्य आचार्यश्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजाने जन-जन में सद्ज्ञानकी ज्योत प्रगटाइ हैं। उनके पावन हस्तों से लिखित 100 से भी अधिक पुस्तको में जाने - माने वाला एक पुस्तक यानी 'जैन धर्म का परिचय' ।

इस पुस्तक की हिन्दी, इंग्लिश एवं गुजराती भाषा में मिलाकर आज तक 4 लाख से भी अधिक प्रतियाँ बीक गइ हैं। जैन धर्म की 'मीनी युनिवर्सीटी' कहलाती इस पुस्तक में...

- जगत् का सर्जनहार कौन हैं ?
- आखिर जीवन में धर्म की जरुरत क्यों ?
- नवतत्त्व एवं जीवविचार ।
- क्या कोइ आत्मा 'सर्वज्ञ' हो सकता हैं ?
- कर्म विज्ञान की सरलतम समज ।
- श्रावको की दिनचर्या एवं साधुधर्म ।
- ध्यान और अध्यात्म ।

इत्यादिक जैन धर्म के विविधविषयों का संक्षिप्त में किन्तु स्पष्ट निरुपण किया गया हैं ।

इस पुस्तक को पढ़ने से लाभ

पढ़ने वाले को सर्व प्रथम लाभ यह है कि उसको बात का भान होगा कि जैनधर्म में सिखाए जाने वालें तत्त्व कितनी अधिक मात्रा में गम्भीर अर्थ वालें, अद्वितीय और असाधारण हैं तथा कैसी मार्गसूचक विशेषताओं से सम्पन्न है। इससे मानवजीवन की इतिकर्त्तव्यता का भी ज्ञान होता है।

दूसरा लाभ यह है कि आर्य संस्कृति जैन धर्म और इसके शासन संस्थापक तीर्थंकर भगवान के प्रति असीम सन्मान उत्पन्न होगा। वह उत्तम रीत से जीवन व्यतीत करने में उपयोगी सिद्ध होगा, साथ ही यह भी समझ में आ जायेगा कि भौतिक विज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान कितना बढ़िया, जीवन में सच्ची शांति, स्फूर्ति तथा समृद्धि प्रदान करने वाला और भव्य तत्त्वदृष्टिदायी है।

कुमारपाल वी. शाह

ISBN : 978-81-925531-7-7

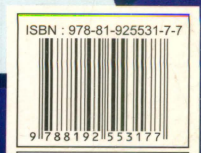

₹ :100.00